

100

100



1944年11月11日

१०	पन्नावना ग अनुमान	३७५
१८	निगमन की मरुता	३७७
२०	आरु जानाचार	३८८
२१	उत्सर्ग और सपवाद का सम्बन्ध	४१८
२२	मरु पसार	४७६
२३	अरुण के रूप में स्याद्वाद	४७८
२४	अरुणी पसार	४८८
२५	अरुणी के लक्षण एवं नियम	४८९
२६	नील अरुणी की मरुता ग रचित	४९२
२७	नील अरुणी की मरुता ग स्याद्वाद	४९९



मंगल शस्त्र से कुछ भिन्न भी है और
कुछ अभिन्न भी है :

नवांगी टीकाकार आचार्य भगवान् श्रीमद् अमयदेव सूरेश्वर जी महाराजा, 'विद्याह पद्मति' नामक पाचवे अगमसूत्र जो अगसूत्र 'श्री भगवतीजी सूत्र' ऐसे पूज्यवाचक नाम से जैन समाज में सुप्रसिद्ध है । उस अगमसूत्र की विवर्ति की रचना करने के लिये उत्साहित बने हैं, उत्साहित बने हैं—उतना ही नहीं, अपितु उसमें प्रवृत्त हुए हैं—ऐसा भी कह सकते हैं : क्यों कि आप श्री ने मगनाचरण करते समय नारे ही भगवान् श्री जिनेश्वर देवों की स्तुति करने के पश्चात् क्या कहा है—वह हम देना रहे हैं, और मगन जैसे शास्त्र से कदाचित् भिन्न मिला जाता है, उसी प्रकार मगल शास्त्र में कदाचित् अभिन्न भी मिला जाता है । इसलिए, इस मगल की प्रवृत्ति को हम यदि उस विवर्ति की स्वता स्व प्रवृत्ति के अग्र रूप में मने और माने, तो यह भी मानें, और स्वर्णित में हम मगलानरण के इस स्तर पर भी ऐसा कह सकते हैं कि 'आचार्य भगवान् श्रीमद् अमयदेवसूरेश्वर जी महाराजा महाराजा श्री भगवतीजी सूत्र की विवर्ति की स्वता स्व प्रवृत्ति में प्रवृत्त हैं' ? ।

मंगल को शास्त्र ने भिन्न कहना ही पड़ेगा, क्यों कि-मंगल किस लिये है ? जिस शास्त्र की रचना करने की अभिलाषा है, उस शास्त्र की रचना को निविघ्न रूप से समाप्त की जा सके, इसके लिये मंगल का आचरण है । गायत्री, शिष्ट पुरुषों ने जिस शुभाचार का आचरण किया है उसका अनुगामी बना जाय, अर्थात् शिष्ट व्यक्तियों के अनुसरण करने का शुभाचार का आचरण करने के लिये मंगल है । इस प्रकार शिष्ट व्यक्तियों का अनुसरण करने का जैसे हमें लाभ मिलता है, उसी प्रकार शिष्ट व्यक्तियों में भी शिष्टजना का अनुसरण करने की युक्ति पैदा हो-उसके लिये मंगल है । इस प्रकार मंगल के अनेक हेतु हैं । अब शास्त्र की रचना करने के लिये मंगल है-उतना तो निविघ्न रूप से ? अब शास्त्र भिन्न और मंगल भिन्न-गैमा कहा जा सकता है । इस संवेदा में जब रहना तो तब गहा २ में पैसा । न गहा है कि, साक्षात् भगवान् श्रीमद् अभयदेव मरीश्वरजी महाराज महामाया की निरूपित की रचना करने के लिये उद्गा-
नित है ।

मंगल शास्त्र में अभिहित है ?

भगवान श्री जिनेश्वर देवों का है और भगवान श्री जिनेश्वर देव स्याद्वादी ही होते हैं। उन तिराने वालों का और उनका अनुसरण करने वालों का कोई भी वचन नै। यह वचन स्यात् पद से युक्त हो अथवा स्यात् पद से युक्त न हो परन्तु उग वचन से स्यात् पद रहा हुआ ही होता है, निर्विवाद रूप से रहा हुआ है, ऐसा ही समझे। इसीलिये भगवान श्री जिनेश्वर देवों का या उन तारकों का उपयोग पूर्ण अनुसरण कर नीलने वालों का वचन 'मिथ्या' अथवा मिथ्या-त्वं' वाला नहीं हो जाना। श्री जैन शासन के शास्त्रों के किसी भी वचन से 'मिथ्या' या 'मिथ्यात्ववाला' कहने का घोर पाप तो वे ही कर सकते हैं, जो मिथ्यात्व के चारों ओर फँस गए हैं और उसमें जिनकी मर्ति मिथ्यात्व नामक आत्मा के महान् जल से मोहित हो चुकी हो। यद्यपि वे वाच्य से साक्षात् स्यात् पद न हो तो भी, उक्त वाच्य का उद्गारण वस्तु समय उनके मन में स्यात् पद का ही-सिद्धा वाच्य ही समझ कर ही उस वाच्य का अर्थ करना चाहिए।

अथ मातुं श्री 'तान्त्रिक' की मति .

भगवान श्री जिनेश्वर देवों का है और भगवान श्री जिनेश्वर देव
 म्यादादी ही होते हैं। उन निराने वालों का और इनका अनुमरण
 करने वालों का कोई भी वचन ले। यह वचन म्यात् पद से युक्त हो
 अथवा म्यात् पद से युक्त न हो परन्तु उग वचन से म्यात् पद रहा
 हुआ ही होना है, निर्विवाद रूप में रहा हुआ है, ऐसा ही समझे।
 इसीलिए भगवान श्री जिनेश्वर देवों का या उन तारकों का उपयोग
 पूर्ण अनुमरण कर बोलने वालों का वचन 'मिथ्या' अथवा मिथ्या-
 त्व' जाता नहीं हो सकता। श्री जैन साधन के शास्त्रों के किसी भी
 वचन को 'मिथ्या' या 'मिथ्यात्व' कहने का घोर पाप तो वे
 ही कर सकते हैं, जो मिथ्यात्व के चरित्र में फल गण हो और उसमें
 किसी भी मिथ्यात्व नामक मात्मा के महान् शत्रु से मोहित हो
 नहीं जायें। म्यात् पद के वाक्य में नाशान् म्यात् पद न हो तो भी,
 उग वचन या अनुमरण करने समय उनके मन में म्यात् पद था ही-
 ऐसा नाशान् और समझ कर ही उग वाक्य का अर्थ करना
 चाहिए।

अथ भगवत के आचरण की शक्ति :

6. 7. 8. 9. 10. 11. 12. 13. 14. 15. 16. 17. 18. 19. 20. 21. 22. 23. 24. 25. 26. 27. 28. 29. 30. 31. 32. 33. 34. 35. 36. 37. 38. 39. 40. 41. 42. 43. 44. 45. 46. 47. 48. 49. 50. 51. 52. 53. 54. 55. 56. 57. 58. 59. 60. 61. 62. 63. 64. 65. 66. 67. 68. 69. 70. 71. 72. 73. 74. 75. 76. 77. 78. 79. 80. 81. 82. 83. 84. 85. 86. 87. 88. 89. 90. 91. 92. 93. 94. 95. 96. 97. 98. 99. 100. 101. 102. 103. 104. 105. 106. 107. 108. 109. 110. 111. 112. 113. 114. 115. 116. 117. 118. 119. 120. 121. 122. 123. 124. 125. 126. 127. 128. 129. 130. 131. 132. 133. 134. 135. 136. 137. 138. 139. 140. 141. 142. 143. 144. 145. 146. 147. 148. 149. 150. 151. 152. 153. 154. 155. 156. 157. 158. 159. 160. 161. 162. 163. 164. 165. 166. 167. 168. 169. 170. 171. 172. 173. 174. 175. 176. 177. 178. 179. 180. 181. 182. 183. 184. 185. 186. 187. 188. 189. 190. 191. 192. 193. 194. 195. 196. 197. 198. 199. 200. 201. 202. 203. 204. 205. 206. 207. 208. 209. 210. 211. 212. 213. 214. 215. 216. 217. 218. 219. 220. 221. 222. 223. 224. 225. 226. 227. 228. 229. 230. 231. 232. 233. 234. 235. 236. 237. 238. 239. 240. 241. 242. 243. 244. 245. 246. 247. 248. 249. 250. 251. 252. 253. 254. 255. 256. 257. 258. 259. 260. 261. 262. 263. 264. 265. 266. 267. 268. 269. 270. 271. 272. 273. 274. 275. 276. 277. 278. 279. 280. 281. 282. 283. 284. 285. 286. 287. 288. 289. 290. 291. 292. 293. 294. 295. 296. 297. 298. 299. 300. 301. 302. 303. 304. 305. 306. 307. 308. 309. 310. 311. 312. 313. 314. 315. 316. 317. 318. 319. 320. 321. 322. 323. 324. 325. 326. 327. 328. 329. 330. 331. 332. 333. 334. 335. 336. 337. 338. 339. 340. 341. 342. 343. 344. 345. 346. 347. 348. 349. 350. 351. 352. 353. 354. 355. 356. 357. 358. 359. 360. 361. 362. 363. 364. 365. 366. 367. 368. 369. 370. 371. 372. 373. 374. 375. 376. 377. 378. 379. 380. 381. 382. 383. 384. 385. 386. 387. 388. 389. 390. 391. 392. 393. 394. 395. 396. 397. 398. 399. 400. 401. 402. 403. 404. 405. 406. 407. 408. 409. 410. 411. 412. 413. 414. 415. 416. 417. 418. 419. 420. 421. 422. 423. 424. 425. 426. 427. 428. 429. 430. 431. 432. 433. 434. 435. 436. 437. 438. 439. 440. 441. 442. 443. 444. 445. 446. 447. 448. 449. 450. 451. 452. 453. 454. 455. 456. 457. 458. 459. 460. 461. 462. 463. 464. 465. 466. 467. 468. 469. 470. 471. 472. 473. 474. 475. 476. 477. 478. 479. 480. 481. 482. 483. 484. 485. 486. 487. 488. 489. 490. 491. 492. 493. 494. 495. 496. 497. 498. 499. 500. 501. 502. 503. 504. 505. 506. 507. 508. 509. 510. 511. 512. 513. 514. 515. 516. 517. 518. 519. 520. 521. 522. 523. 524. 525. 526. 527. 528. 529. 530. 531. 532. 533. 534. 535. 536. 537. 538. 539. 540. 541. 542. 543. 544. 545. 546. 547. 548. 549. 550. 551. 552. 553. 554. 555. 556. 557. 558. 559. 560. 561. 562. 563. 564. 565. 566. 567. 568. 569. 570. 571. 572. 573. 574. 575. 576. 577. 578. 579. 580. 581. 582. 583. 584. 585. 586. 587. 588. 589. 590. 591. 592. 593. 594. 595. 596. 597. 598. 599. 600. 601. 602. 603. 604. 605. 606. 607. 608. 609. 610. 611. 612. 613. 614. 615. 616. 617. 618. 619. 620. 621. 622. 623. 624. 625. 626. 627. 628. 629. 630. 631. 632. 633. 634. 635. 636. 637. 638. 639. 640. 641. 642. 643. 644. 645. 646. 647. 648. 649. 650. 651. 652. 653. 654. 655. 656. 657. 658. 659. 660. 661. 662. 663. 664. 665. 666. 667. 668. 669. 670. 671. 672. 673. 674. 675. 676. 677. 678. 679. 680. 681. 682. 683. 684. 685. 686. 687. 688. 689. 690. 691. 692. 693. 694. 695. 696. 697. 698. 699. 700. 701. 702. 703. 704. 705. 706. 707. 708. 709. 710. 711. 712. 713. 714. 715. 716. 717. 718. 719. 720. 721. 722. 723. 724. 725. 726. 727. 728. 729. 730. 731. 732. 733. 734. 735. 736. 737. 738. 739. 740. 741. 742. 743. 744. 745. 746. 747. 748. 749. 750. 751. 752. 753. 754. 755. 756. 757. 758. 759. 760. 761. 762. 763. 764. 765. 766. 767. 768. 769. 770. 771. 772. 773. 774. 775. 776. 777. 778. 779. 780. 781. 782. 783. 784. 785. 786. 787. 788. 789. 790. 791. 792. 793. 794. 795. 796. 797. 798. 799. 800. 801. 802. 803. 804. 805. 806. 807. 808. 809. 810. 811. 812. 813. 814. 815. 816. 817. 818. 819. 820. 821. 822. 823. 824. 825. 826. 827. 828. 829. 830. 831. 832. 833. 834. 835. 836. 837. 838. 839. 840. 841. 842. 843. 84

माथ भी उद्धत्ता पूर्वक आचरण न करना ऐसा व्यवहार दो तीन दशान्दि पूर्व तो अच्छी प्रसार से प्रवर्तित था । आज ऐसे बृद्धों की प्रायः अथवा ही की जाती है । माता पितादि को और बड़ों को नमस्कार करने का व्यवहार तो गया, परन्तु उनके साथ बातें करने की रीति भी बदल गई है और उसमें उद्धत्ता आ गई है । विद्यादाता शिक्षकों के माथ का व्यवहार भी उतना ही, अथवा तो इसमें भी अधिक बदल चुका है और बिगड़ चुका है । विद्यादाना शिक्षकगण विनय से प्रसन्न होकर विद्या का दान दें, इसके स्थान पर आज उन शिक्षकों को शिष्यादिनों से भी उर्ते रहना पड़ता है । यदि आपमें नम्रता और जननता ये दो गुण होने तो आपके सामाजिक व्यवहार अपने अनुचित न बन पाते ।

देवस्थानों और धर्मस्थानों में आए हुए दोषों तथा
भक्ति की न्यूनता का मूल भी क्या है ?

कृतज्ञता और नम्रता गुण के अभाव के कारण धार्मिक व्यवहारों में भी काफी बिगाड़ हो गया है और दिन प्रतिदिन यह बिगाड़ भी बढ़ता जाता है । आत्मक के रूप में आपके जो-जो धार्मिक व्यवहार गिने जाते हैं उनमें तथा साधु के रूप में हमारे जो-जो धार्मिक व्यवहार गिने जाते हैं उनमें सभी में आज कृतज्ञता और नम्रता सबन्धी गुणों का अभाव होने में अनेक अनिच्छनीय अशुभ तत्व घुस गये हैं और शुभ तत्त्व धीरे-धीरे घटने जाते हैं । भगवान् श्री जितेश्वर देवों और गुरुओं का हमारा ऊपर कैसा तेरा और कितना कितना उपकार है हम सम्बन्ध में प्राद में और हम में नास्वाय विचार करने वाले हैं कि हमें देव गुरु के उपकारों को प्राद कर, इन उपकारकर्ताओं की विविध प्रकार से भक्ति करने का मनान्वय करने वाले कितने ? आप सभी की धारणा भक्ति सामर्थ्य के अनुसार देव और गुरु की भक्ति न्यून ही रहने लगी है तो देवस्थान और धर्मस्थान जिस प्रकार धर्मस्थानों में होते हैं वही उन प्रकार उन स्थानों की अभावों का अनुभव होगा । देवस्थानों और अन्य धर्मस्थानों में आपने देवों का उपास करने का आशय क्या किया ? समझते हैं कि-

स्त्रियों के लिये इतना अधिक खर्च और जो देव-गुरु मुझे मोक्ष मार्ग की मेरी आराधना में प्रेरक और सहायक है, उनकी भक्ति में या तो गर्व तनिक नहीं अथवा नगण्य सा खर्च ?' परन्तु कृतज्ञता गुण हो और हममें देव गुरु के उपाकार का आपको अपनी समझ के अनुसार भी विचार आता रहता हो, तो आपको ऐसा विचार आए न ?

देव-गुरु-धर्म के सम्बन्ध में आई हुई अवज्ञा :

कृतज्ञता गुण के अभाव के कारण जैसे भक्ति के कार्यों में बड़ी जमी आई है, उसी प्रकार नम्रता गुण के अभाव के कारण देव गुरु की आज्ञानुज्ञा हो ऐसी प्रवृत्तियाँ भी बढ़ती जाती हैं। आपको जब किसी भी बड़े व्यक्ति से मिलने हेतु जाना होता है, तब आपको स्वाभाविक रूप में ही विचार आता है कि 'वहाँ मुझे कैसा वेश आदि धारण कर जाना चाहिये वहाँ मुझे किस प्रकार प्रवेश करना चाहिये किस प्रकार नमन करना चाहिये। किस प्रकार बोलना चाहिये और किस प्रकार लिखें मैं मिलने जा रहा हूँ उनके वचन की स्वीकार करना चाहिये।' जैसे भी राज्य महाराजा वायसराय या मन्त्री के लिये मिलने के लिए आपको जाना हो, तब तो आप को कितने विचारों का सामना होना पड़ेगा। ऐसी ही विचारणा का अनुसर, देव-गुरु के लिये भी करना आवश्यक है। यही है आज देव स्थानों और अन्य

उमे पना चल जाय तो भी वह बात उसके अन्तरतम मे बैठ जाती है और उमे भी वह अपने ऊपर उपकार मानता है । इस कृतज्ञता गुण के साथ, यदि नम्रता गुण हो, तो उमे सद्गुरु का योग बहुत अच्छी तरह फलित होता है क्योंकि वह सद्गुरु का सम्मान किये बिना रहेगा नहीं, और सद्गुरु द्वारा कही हुई कोई भी बात यदि उसे स्वयं को समझ में न आएगी, तब भी सामना नहीं करेगा परन्तु अवसरोचित रीति मे पूछ कर अपनी शका का समाधान करने का प्रयत्न करेगा ।

धर्माश्रयता सरलता से हो सकती है :

कृपण और नम्र व्यक्ति जिस प्रकार धर्म को सरलता से प्राप्त कर सकता है उसी प्रकार धर्म की आश्रयता भी सरलता से कर सकता है । सभी जनों को धर्म की आश्रयता करने मे उनकी कृतज्ञता और नम्रता बड़ी मतायत होती है । व्यक्ति धर्म को प्राप्त करे, कि उनसे विरक्त जाता है । उपकार किसे करने है और विनय किसे का हैना होता है उसे यह समझना है । अब फिर तो, वह कृतज्ञता के नाम से यह नम्र बन कर धर्म को जानि पहुँचे, ऐसा कुछ भी करेगा ही नहीं । इसी से ईश्वर भगवान् श्री कृष्णस्वर देवों और नारतों का आश्रयता करने वाले आश्रयता आदि न प्रतिता समझा भक्तिभाव

परिणाम में यह आत्मा मगुरु के स्वरूप के विषय में तथा मधर्म के स्वरूप के विषय में भी मुनिश्चित् मति वाली हो जाए।

ऐसे तो कम, परन्तु आप किसमें ?

इसलिये ऐसी महत्व की बात आप भूले नहीं होंगे और यथा शक्ति याद करने रहे होंगे-ऐसी कल्पना करने का मेरा मन तो हो न ? यह भी, प्रश्ना देने की एक पद्धति है। आपको इस प्रकार कहा हो, तो आपको बात याद करने का मन हो और पूर्व कथित बातें बहानिन् भूता भी दी गई हो, तो उन बातों को जानकर उनकी निगमनादि करने का मन हो। बाकी तो मुझे लगता है कि जिसे ये पद्धति-विशेषण समझ याद हो और इन विशेषणों के परमार्थ का समझ हो उसे आभासी ही समझ तो बहुत ही अन्य होगी। एक भी ऐसा मेरा न होगा-ऐसा तो नहीं रहा ना माना परन्तु जो बात मैं कह रहा हूँ वह तो आपकी बात याद रहनी चाहिये वह जरूरी है यह बात भी किसी-किसी को और यह भी प्रायः बहुत सव में याद हो जाता रहता ही रहता ही रहता है। आपका सब एसे प्रकार है। आपका मेरा ही है। आप ही हैं या मेरा ही हूँ। मैं ही हूँ या आप ही हैं। आप ही हैं या मैं ही हूँ।

उमका कारण क्या ? हम इस बात को स्वीकार करते हैं कि ऐसी आत्माएँ अनन्त ही गई हैं परन्तु इन अनन्तों के नाम ठाम आदि का ज्ञान टीकाकार महर्षि को भी न हो । अनन्तों के नाम ठाम आदि का ज्ञान किम मे सम्भव हो सकता है । अनन्त ज्ञानी मे ही । जो अनन्त ज्ञानी न हो, उसे कभी भी अनन्त के व्यक्तिगत नाम-ठाम आदि का ज्ञान होगा ही नहीं । हम जानते हैं कि टीकाकार महर्षि अनन्त ज्ञानी बने हुए, न थे, अतः प्रथम श्लोक मे प्रयुक्त पन्द्रहो विशेषण जिन पर उचित रूप मे लागू होते हैं—ऐसी आत्माएँ अनन्त हो चुकी होने पर भी, उन प्रत्येक के नामादि का पता टीकाकार महर्षि को भी न होना स्वाभाविक है, परन्तु अमुक अमुक श्री जिनेश्वर देवों के नामों का तो उन्हें पता होगा । अन्य देवों मे हो चुके अथवा तो वर्तमान मे विद्यमान भगवान श्री जिनेश्वर देवों के नामों की बातें तो हम सब का भी उस भक्त क्षेत्र मे गत उत्तमपिण्डी काल मे हो चुके श्री जिनेश्वर देवों के नामादि की आज भी कई को मबर है । गत उत्तमपिण्डी काल मे हो चुके चांगी भगवानों के नाम गुनने हैं ।

तेरहवें श्री विमलनाथ भगवान्,
 चौदहवें „ अनन्त नाथ भगवान्,
 पंद्रहवें „ धर्मनाथ भगवान्,
 सोलहवें „ शांतिनाथ भगवान्,
 सत्रहवें „ कुशुनाथ भगवान्,
 अटारहवें „ श्ररनाथ भगवान्
 उन्नीसवें „ मल्लिनाथ भगवान्,
 बीसवें „ मुतिसुव्रत स्वामी भगवान्,
 इक्कीसवें „ नमिनाथ भगवान्,
 बाईसवें „ नेमिनाथ भगवान्,
 तेईसवें „ पार्श्वनाथ भगवान्,

इस प्रकार तेईस गोर्खानि भगवान् हो जाने के पश्चात् चौबीसवें गोर्खानि भगवान् श्री वर्तमान स्वामी जी हुए हैं, फिर भी प्रथम गोर्खानि श्री जगन्मोह भगवान् आदि तिसों के भी नाम का उच्चारण करने का समय लोकोक्ति भगवान् श्री वर्तमान स्वामीजी के पास नहीं था। इसका दोहाकार महर्षि ने लिखा है जो इसका अर्थ है—

दास श्री वर्तमान स्वामी भगवान् चौबीसवें तीर्थपति हैं,
 वरानु विष्णु के उपासी जगन्नाथ गोरे श्री हैं। इसलिये इनके नाम
 का उच्चारण भी हर समय के किया है, ऐसा गो मान रखने
 है।

भी श्री महावीर आदि नाम से पहिचाने जाते हैं और अधिक प्रचलित भी यही नाम है। यद्यपि शास्त्रों में अनेक स्थलों पर चौबीसवे तीर्थ पति भगवान की श्री वर्धमान स्वामी जी के नाम से भी स्तुति की गई है जैसे कि लोगम्भ में भी 'वद्धमाणस्स' पद आता है, फिर भी मूत्रादि में अनेक स्थलों पर 'श्री महावीर' नाम का ही प्रयोग किया गया है। श्री कल्पसूत्र जैसे में भी 'ममणे भगव महावीरे' इत्यदि प्रयोग देखने को मिलते हैं। इस प्रकार, वर्तमान काल की चौबीसी के चौबीसव तीर्थधर का श्री 'महावीर' के नाम अतिशय प्रसिद्ध और व्यवहार प्रचलित होने पर भी, टीकाकार महर्षि ने, इन तारक का नामोच्चारण करने में, श्रीवर्धमान नाम को पसंद किया है, इसमें भी कोई बड़िया आशय रहा हो—यह सभव है।

श्री वर्धमान नाम की स्थापना :

इस अवसरिणी के चौबीसवें तीर्थपति भगवान का, श्री वर्धमान नाम उन श्री कविता श्री निद्रार्थ राजा ने स्थापित किया था, उसी प्रकार श्री महावीर नाम उन्द्र ने स्थापित किया था। इन दोनों नामों की स्थापना के पीछे भिन्न-भिन्न दृष्टि बिन्दु थे।

महावीर का श्री वर्धमान नाम रखने का मतलब तो इन तारक का मतलब है श्रीवर्धमान नाम के उद्गार में गर्भ रूप में रही हुई श्रीवर्धमान नाम का स्थापना था।

जो बढ़ता ही रहे, उसे वर्धमान कहते हैं। उस समय प्रत्यक्ष रूप से वर्धमान तो भगवान के माता-पिता थे, क्योंकि विविध वैभवों में वे ही वृद्धि को प्राप्त कर रहे थे, परन्तु वे अपनी इस वृद्धि को अपनी वृद्धि नहीं समझते थे, परन्तु ऐसा समझते थे कि यह सारी वृद्धि गर्भस्थ आत्मा के पुण्योदय के कारण ही है और इस प्रकार यह गारी वृद्धि वस्तुतः तो इस गर्भस्थ आत्मा की स्वयं की है। उनकी ऐसी मान्यता थी, इसीलिये उन्होंने इस गर्भस्थ पुत्र का जब जन्म हुआ तब इसका 'वर्धमान' ऐसा गुण निष्पन्न नाम स्थापित करने का निर्णय किया।

यथा नाम तथा गुण हो अथवा यथा गुण तथा नाम हो, जो जैसे नाम की गुण निष्पन्न नाम कहते हैं।

भगवान की आत्मा देवर्षीक में में व्यवस कर आषाढ शुक्ल दशम के दिन देवानरा के उदर में अवतरित हुई थी। उस दिन से गंगा नदी, योनि नदी मातृ और मातृ गान्धर्व दिन बीतने पर, अर्थात् नौ मातृ की शुक्ल पञ्चमि तो मध्य रात्रि के समय यह आत्मा श्रीमती पितृ मातृ के उदर में में वापस आई अर्थात् इसमें जन्म दिन हुआ पञ्चमि के वापस दिन अर्थात् मातृगो गगना के अनुसार देव, व. १०० और शुक्ल गी मातृगो के अनुसार नौ शुक्ल दशम के दिन भगवान का मातृगो गगना मनाया गया।

है। इन्द्र विवेक शील है तो भगवान के माता पिता भी विवेक शून्य नहीं है। दोनों ही विवेक गुण से सपन्न होने पर भी एक की दृष्टि गुण की ओर है और दूसरे की दृष्टि पुण्य प्रकर्ष की ओर है, इसका कारण क्या? मुख्य कारण तो यही है कि इन्द्र को भगवान के गुणों के सम्बन्ध में जैसा ज्ञान है वैसे ज्ञान भगवान के माता पिता को नहीं है। इन्द्र अवधी ज्ञानी है, अतः भगवान अपने जीवन में भयंकर से भयंकर उपमर्गों के समय भी कैसे अचल और क्षमाशील रहते पाते हैं। यह जान सकते हैं देख सकते हैं, जब कि भगवान के माता पिता को ऐसा ज्ञान नहीं है। साथ ही भगवान के माता पिता के हृदय में मुख्य रूप से स्नेह राग का बल है, जब कि इन्द्र की सेवा तो गुण राग विषयक है। उमलिये भगवान के माता पिता भगवान का 'परमान' नाम स्थापित करते हैं। यह भी स्वाभाविक है और इन्द्र भगवान का मत्तानी नाम स्थापित करे—यह भी स्वाभाविक है।

भगवान के धैर्य और वीरता की

इन्द्र द्वारा की हुई प्रशंसा :

पान दान शौच के प्रमाण को लेकर भगवान का वीर
नाम रमते की बात सुनने में आती है न ?

पैदा होता भिन्न बात है। ईर्ष्या अत्यन्त क्रूर मनोभावों की सूचिका है। व्यक्ति को इतनी योग्यता तो अवश्य पैदा करनी चाहिये कि चाहे जैसा भी प्रशंसा सुनकर हृदय में कभी भी ईर्ष्या भाव प्रकट न होने दे किसी भी अच्छाई आपके हृदय में ईर्ष्या भाव पैदा न करे ऐसी आपकी स्थिति है क्या? किसी का भी अच्छा होता हो, भला होता हो तो उसमें आप नाराज तो नहीं होते न। चतुर्विध श्री सध में गण्यमान्य कई व्यक्तियों में भी आज ईर्ष्या का दोष बढ गया है ऐसा आप महसूस करते हैं क्या? समाज में, दूसरों को अच्छे बनाने की कार्यवाही अधिक चल रही है या जिसका अच्छा चल रहा हो, उसका बुग करने की कार्यवाही अधिक चल रही है? ईर्ष्याधीन बना हुआ मूढ़ भी बोलता है, मिथ्या कवक भी लगता है, जो वस्तुये हो उनका सम्भाव्य बनाने और जो न हो उन्हें बताने का भी प्रयत्न करता है थोड़ा जटा शरमर मिला कि किसी के कान भरने का कार्य भी करता है ऐसा न करने वाले मिलने से क्रूर मनोभावों में आनन्द मनाते हैं। ईर्ष्यामान के अधीन नन हुए, दूसरों का विगाड़ कर सकेंगे या नहीं पर भी अनिश्चित है परन्तु वे अपना स्वयं का तो अवश्य विगाड़ कर रहे हैं। दूसरों का विगाड़ करने से तो, दूसरों का विगाड़ ऐसा अच्छा या बुरा मतलब होता चाहिये, जहाँ कि ईर्ष्यानु का विगाड़ने से तो नाराज होकर या दुःखी होकर या दुःखी बन गयी जाता है। वह ईर्ष्यानु का दोष नहीं मानता मानता है।

टीकाकार महर्षि के हृदय का वर्धमान भाव :

टीकाकार महर्षि आचार्य भगवन् श्रीमद् अभयदेव सूरेश्वरजी महाराज ने पन्द्रह विंशेपणो द्वारा सर्व सामान्य श्री जिनस्तुति करने के पश्चात् हमारे श्लोक के प्रारम्भ में, इस अवसरपिणो काल में इस श्री भगवन् क्षेत्र में हो चुके चौबीस तीर्थङ्कर भगवानों में से चौबीसवें तीर्थङ्कर भगवन् को उनके नाम का उच्चारण करके नमस्कार किया है। इस मन्त्र में हम अब तक कई वाने कर आये हैं। उनमें यान यह था कि श्री महावीर नाम विंशेप लोक प्रचलित आर इन्द्र-मणित होने पर भी टीकाकार महर्षि ने 'श्री वर्धमान' नाम का उच्चारण क्यों किया? इस मन्त्र में हम देग आये हैं कि श्री वर्धमान नाम किन परिस्थितियों में स्थापित किया गया था। यहाँ भी हमका लक्ष्य है कि टीकाकार महर्षि के हृदय में वर्धमान भाव रहा होगा है और इसीलिए उन महापुरुष ने 'नत्वा श्री महावीराय' नहीं किया नत्वा श्री वर्धमानाय किया है। टीकाकार महर्षि को तो अभी शक्ति प्रदत्ता है न? तो प्रग सूत्र की टीका की रचना करनी है। प्रग सूत्र में उपनिषदों के प्रग सूत्र आर चौथे अंग सूत्र उन प्रग सूत्र की टीका की रचना ता है। इस पान्च अंग सूत्र की टीका की रचना की जाती होगी टीका रचना है। इस तीसरी टीका की रचना करने की हमकी आज्ञा है।

गर्भ में आते हैं, तभी से देवेन्द्रादि से पूजित होने लग जाते हैं, परन्तु भगवान् पूजित ही होते रहे-ऐसे प्रकार का पूजातिशय तो उनके केवल ज्ञान प्राप्ति करने के साथ ही तुरन्त प्रकट होता है।

जैसे पूजातिशय केवल ज्ञान होने के साथ ही तुरन्त प्रकट होता है, उसी प्रकार भगवान् का वचनातिशय भी केवल ज्ञान होने के साथ ही प्रकट होता है। ये तरणहार बोलते तो हैं एक भाषा में, परन्तु मुनने वाले सभी को लगता है कि भगवान् उनकी २ (श्रोताश्रोत्री) भाषाओं में बोल रहे हो। देव और मानव ही समझ सकें—ऐसा नहीं, परन्तु पशु पक्षी भी समझ सकते हैं। भगवान् कोई बात कहें और वह बात समझ में न आने में मन में जहाँ संशय पैदा हो, वहाँ तो उसका संशय दूर हो जाए, ऐसा उसे मुनने को मिलता है और होता है कि भगवान् मेरे मन में अभी ही उत्पन्न हुए संशय को समझ गए और उसका निराकरण कर दिया। भगवान् का धर्मोपदेश चलता है वर चलता है मानो मधुर संगीत चल रहा हो। चाहें जैसा मिथ्यादर्शित जीव भी, भगवान् के वचन का विरोध नहीं कर सकता। यह सब भगवान् के वचनाविजय का प्रभाव है। अपनी मूल शक्त का वह है निष्ठा मात्र ज्ञानविजय तब ही साथ में भी, भगवान् के वचन धर्मोपदेशों का उत्प्रेरण होता जाता है।

सर्वोत्तम कौटि के चारित्र्य बिना सर्वोत्तम कौटि

का ज्ञान प्रकट हो नहीं होता :

द्वेष को क्षीण कर डालने की इच्छा रखता है, और राग-द्वेष को क्षीण करने का अमोघ साधन चारित्र्य है। इससे, जो आज ज्ञान के नाम पर चारित्र्यचारों की अवहेलना करने में हित देखते हैं, अथवा तो अपने ज्ञान को रुचि के नाम पर जो अपनी चारित्र्यशोभता के अभाव का वचाव करते, वे वस्तुतः ज्ञान के उपासक हैं या नहीं इसका विचार वे स्वयं ही करें।

श्री मापतुष मुनिवर :

क्या आप 'मापतुष' नाम से ज्ञान मुनिवर के प्रसंग से परिचित हैं। उनके ज्ञानावरणीय कर्मों का उदय ऐसा प्रबल हो रहा था कि जिसमें महामुनि नाग प्रयत्न करने पर भी 'मा रूप' और 'मा तुष' उनका भी आप और प्रकार में कण्ठस्थ कर उसे याद रखने में असमर्थ थे। ज्ञानावरणीय कर्मों के ऐसे प्रबल उदय होने वाले भी इन महामुनि ने, अपने पुरुषार्थ के लक्ष्य पर अपने मात्र ज्ञानावरणीय कर्मों को ही गुरु र भद्र माना माना ही नहीं परन्तु अपने चारों घाति कर्मों को अपने मूल में ही भेद देने और केवल ज्ञान उपाजित किया।

यही उग्र में दीक्षित :

द्वेष को क्षीण कर डालने की इच्छा रखता है, और राग-द्वेष को क्षीण करने का अमोघ साधन चारित्र्य है। इससे, जो आज ज्ञान के नाम पर चारित्र्यचारों की अवहेलना करने में हित देखते हैं, अथवा तो अपने ज्ञान की रुचि के नाम पर जो अनो चारित्र्यशीलता के अभाव का बचाव करते, वे वस्तुतः ज्ञान के उपासक हैं या नहीं इसका विचार वे स्वयं ही करें।

श्री मापतुप मुनिवर :

जया आप 'मापतुप' नाम से ज्ञात मुनिवर के प्रसंग से परिचित हैं। उनके ज्ञानावर्गीय कर्मों का उदय ऐसा प्रबल हो रहा था कि जिसमें महामुनि नाम प्रयत्न करने पर भी 'मा रूप' और 'मा तुप' इत्यादि भी आप ठीक प्रकार से लक्ष्य कर उसे याद रखने में असमर्थ थे। ज्ञानावर्गीय कर्मों के ऐसे प्रबल उदय होने वाले भी उन महामुनि से, अपने पुण्यों के दान पर अपने मात्र ज्ञानावर्गीय कर्मों की स्मृति में दाया दाना ही नहीं परन्तु अपने चारों घाति कर्मों की स्मृति में ही जेद ली और केवल ज्ञान उपाजित किया।

श्री उद्योग में बोधित :

याद हो तो पढ़े-ऐसे तो अब भी मिलते हैं परन्तु चाहे जितनी बार रटने पर भी याद न हो और फिर भी जानोपार्जन के प्रयत्न को छोड़े नहीं-ऐसे तो बिगले हो होते हैं। थोड़ा सा परिश्रम किया और याद न हुआ कि उकता जाए और पढ़ना छोड़ दे-ऐसा वर्ग ही बड़ा होता है। इस प्रकार भी जानोपार्जन के प्रयत्न से दूर भाग जाने वालों के लिये, यह एक सुन्दर गजब की प्रेरणा देने वाला आदर्श है।

अनन्त ज्ञानी बनें :

इन महामुनि ने इस प्रकार बारह-बारह वर्षों तक प्रयत्न किया। इस प्रयत्न के परिणामस्वरूप, ये महामुनि क्षपक श्रेणी पर आसक्त होकर इन महामुनि ने अन्नमुंहतं मात्र में चारों घाति बर्षों का शयन कर उठा और इस प्रकार ये महामुनि पढ़ते और बीतराग बने और नुरन्त ही अनन्त ज्ञानी भी बन गए। 'मा रूप, मा वृष' इनके पदों का ज्ञान तो क्या ? परन्तु इन महामुनि जगत् में जितने भी जीव प्राणीवादि पदार्थ हैं उनका और उनके सभी वर्णों का भी सर्वज्ञात ज्ञान हो गया। तेने महामुनियों को 'महामुनि' का नाम नमस्कार करें। सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र्य दोनों का प्रेरणा इन महामुनि के जीवन में मिल रही है।

सूरम्भ क्षेत्र में होने हुए भी

सूरम्भ भाव में नहीं :

था। वहाँ छोटे भाई समझकर तो वन्दन करना न था, परन्तु केवल ज्ञान को लक्ष्य में रखकर वन्दन करना था। छोटा भी पहिले दीक्षित हुआ हो और केवल ज्ञान प्राप्त कर चुका हो तो गुणाधिक्य के कारण वन्दनीय समझा जाता है।

इस बात को श्री बाहुबलिजी समझने ही न थे क्या ? श्री बाहुबलिजी भी महान विवेकी थे । श्री बाहुबलिजी यदि महान विवेकी न होते तो उन्होंने जिन सयोगों में अपनी मुठि से अपने मस्तक के तालों को उगाड़ कर समार का त्याग किया, उन सयोगों में ऐसा जोन करने और समार का त्याग करके भगवती दीक्षा ग्रहण करने का विचार भी नहीं आता । इन्हें तो जैसा ही विचार आया वैसा ही निगम करके उसे कार्यान्वित भी कर दिया ।

उममे भी एक बात तो थी ही कि 'ममार का त्याग तो कर दे' परन्तु भरत की अधीनता तो हर्गिज स्वीकार नहीं करूँगा। यद्यपि तब दिया तब स्थिति भिन्न थी। महाराजा श्री भरत को मानने के लिए ही उन्होंने मुठि उठाई थी, परन्तु मुठि उठाई और फिर तब तब या तो उममे परिणाम था। महान अनर्थ ! वह था कि 'हूँ' मेरे ही तावा। 'वम उसी समय वेगम प्रचल हुआ कि 'वम' महाराज को मानने के लिए उठायी हुई मुठि में ही उममे उठाई और तब तब या तो उममे परिणाम था। परन्तु श्री भरत महाराज की अधीनता स्वीकार न करनी थी।

भागती फिरती है। अतः विवेकशील आत्माओं को तो, सदा के लिए नमस्करणीय पूज्यों को शुद्ध आशय से शुद्ध भावपूर्वक नमस्कार करने में ही गुरुता माननी चाहिये।

श्री सुधर्माजी को नमस्कार :

टीकाकार आचार्य भगवान ने जैसे भगवान श्री वर्धमान स्वामीजी को नमस्कार किया है, वैसे ही उसके बाद तुरत ही पाचवे गणधर भगवान श्री सुधर्मास्वामी जी को भी नमस्कार किया है। प्रथम गणधर भगवान तो श्री गौतम स्वामी जी महाराज हुए हैं, फिर भी यहाँ श्री सुधर्मा स्वामी जी का नाम लेकर नमस्कार किया गया है, इसमें विनिष्ट हेतु रहा है। जिस अंग सूत्र की टीका की रचना करने के लिए टीकाकार महर्षि प्रवृत्त हुए हैं, उस अंग सूत्र के ग्रन्थिना गणधर भगवान श्री सुधर्मास्वामीजी हैं।

नममान श्री वर्धमान स्वामीजी ने तो अर्थ से द्वादशांगी कही, परन्तु इस अर्थ की सूत्राकार में किमने सूँथा? गणधर भगवानों ने। इस आशय में यह वर्णन कर चुके हैं कि भगवान श्री वर्धमान स्वामी जी ने मानव में हुए गणधर द्वादशांगियों की रचना हुई थी क्योंकि भगवान ने गणधर गणधरों की स्थापना की थी और उन प्रयोग गणधर भगवानों ने अन्तर्गत द्वादशांगी की थी। इन गणधर द्वादशांगियों के अंग गणधर गणधर भगवान श्री सुधर्मा स्वामीजी की रचना की थी और प्रभु के नाम में परमेश्वर में प्रवेश किया।

गणधर भगवानों ने गणधरों को स्थापना की थी और उन प्रयोग गणधर भगवानों ने अन्तर्गत द्वादशांगी की थी। इन गणधर द्वादशांगियों के अंग गणधर गणधर भगवान श्री सुधर्मा स्वामीजी की रचना की थी और प्रभु के नाम में परमेश्वर में प्रवेश किया।

वतीजी सूत्र रूपी पाचवे अ ग सूत्र का गूथन करने वाले पाँचवे गण-
धर भगवान श्री सुधर्मा स्वामी जी को नमस्कार किया है।

इसमे अवज्ञा नहीं :

इस प्रकार नमस्कार करने मे श्री गौतम स्वामी जी आदि की
अवज्ञा होती हो ऐसा कुछ नहीं है। जैसे भगवान श्री वर्धमान स्वामी
जी को नमस्कार किया—इसमे भगवान श्री ऋषभ देव स्वामीजी
आदि भगवानों की अवज्ञा हुई हो—ऐसे नहीं कहा जा सकता, उसी
प्रकार श्री सुधर्मा स्वामी जी को नमस्कार किया—इससे श्री गौतम
स्वामी जी आदि की अवज्ञा हुई हो—ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि
भगवान श्री ऋषभ देव स्वामी जी आदि को नमस्कार न करना—
या तो गणधर भगवान श्री गौतम स्वामी जी आदि को नमस्कार
न करना—ऐसा भी टोकाकार महर्षि के हृदय मे नहीं था और भग-
वान श्री वर्धमान स्वामी जी को नमस्कार करके उनही अपेक्षा भग-
वान श्री ऋषभ देव स्वामी जी आदि को या तो गणधर भगवान
या सुधर्मा स्वामी जी को नमस्कार करके गणधर भगवान श्री
गौतम स्वामी जी आदि को शून्य बनाना—ऐसा भी टोकाकार महर्षि के
हृदय मे नहीं था। जिन गुणों मे सभी समान रूप मे सम्पन्न हो उन्हीं
गुणों का नाम लक्षण 'अमुक विशेष ही थे,' अथवा 'अमुक ही विशेष
हो' ऐसा पद जान लेना करना पड़े कि अवज्ञा है। इसमे भी
अज्ञान ही अवज्ञा नहीं है, परन्तु इसमे एक ही प्रश्न का नाम पर
अज्ञान ही अवज्ञा है—ऐसा कहना पड़ता, परन्तु इसमे तो ऐसा कुछ
नहीं है जो कि अवज्ञा है। इस लक्षण का निमित्त—मान
कर लक्षण ही अवज्ञा है। अवज्ञा ही अवज्ञा है। अवज्ञा ही अवज्ञा है।

सामर्थ्य तो गरुधर भगवान का ही गिना जाएगा न ? इसी त्रिपदी को अन्य कोई स्वयं भगवान के श्री मुख से सुने, तो भी उसके श्रवण योग से गरुधर भगवानों की आत्माओं को जैसा बोध होता है, वैसा बोध किसी को ही नहीं और दूसरा कोई इतना सुनकर द्वादशांगी की रचना भी न कर सकता । ऐसी शक्ति तो, गरुधर भगवानों की आत्माओं के लिये ही आरक्षित रही है और रहेगी ।

पूर्वकालीन सर्व महापुरुषों को

नमस्कार :

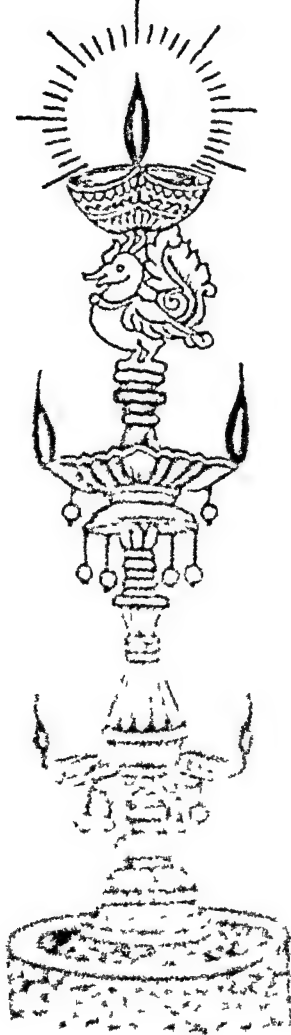
टीकाकार महर्षि, भगवान श्री वर्धमान स्वामी जी को और गरुधर भगवान श्री मुधर्मा स्वामी जी को नमस्कार करके भगवान चरण में रुक गये हों ऐसा भी नहीं । टीकाकार महर्षि ने तो 'सर्वा नुयोगवृद्धेभ्य ' ऐसा बतलाकर, अपने से पूर्व हुए सभी महापुरुषों को भी नमस्कार किया है । कारण ? अँग सूत्र आदि अपने तक पहुँचने, हमें इन सभी महापुरुषों का भी योग है और वह भी साधारण उपकार नहीं । भगवान ने द्वादशांगी अर्थ में कही और गरुधर देवी ने द्वादशांगी ता सूत्र रूप में सूचन दिया, परन्तु उसे यथाशक्त स्मरण में रख कर, मुनिजित रत्नकर, सम्हाल कर महापुरुषों ने जितनी भी शक्ति शक्ति शक्ति में अस्मिता में रखी न होती, तो हमें इसमें से कुछ भी लेना मिल सकता था । अतः इन महापुरुषों का भी उपकार न भूया न ? इस प्रकार नमस्कार करने में भगवानों का गौरव बढ़ेगा । इन महापुरुषों द्वारा दिया गया उपकार लक्ष्य में आने में भी इस प्रकार बताया जा सकता है और फिर भी उपकार न भूया न ? इस प्रकार बताया जा सकता है । महापुरुषों ने जो उपकार दिये हैं, वे उपकारों द्वारा साक्षात् तो ? कर्माणि कर्माणि कर्माणि । गरुधर भगवान श्री भगवतीजी की शक्ति से उपकार न भूया न ?

दो हैं कि यह टीका भ स्वतन्त्ररूप से रचने वाला नहीं है। टीकाकार महर्षि कहते हैं कि 'मैं आधार लूँगा,' और आप किसका-२ आधार लेने वाले हैं, उसका निर्देश भी आपने कर दिया है। श्री जैन शास्त्र में यह पद्धति है। आधार लिए बिना कोई बोलता ही नहीं। भगवान् श्री जिनेश्वर देव तो, केवल ज्ञान होने के बाद ही धर्मतीर्थ को स्थापना करते हैं, अतः उन नागमहारों को तो अन्य किमों के आधार की अपेक्षा नहीं, परन्तु इनके अलावा जो कोई हो, उन्हें तो उत्सुत पक्षपादि से बचकर सत्यवादि ही बना रहना हो तो योग्य का आधार लेना ही चाहिये। द्वादशांग को रचना करने योग्य सामर्थ्य रखने वाले नागधर भगवान् ने भी पहिले भगवान् के वचनों का आधार लिया और उक्तिगत जो कुछ भी कहा है वह भगवान् के नाम से ही कहा है। मनेज रत्न की सिद्धि अधिक मर्मिमा है। उगने काकार का दर्शन कर ही नहीं बनता है। बट मय निरता है और इसकी का भी निर्गते का आधार बनता है। श्री मुनिर्मा स्वामीजी ने पद ३४ व ३५ श्री रामकृष्णदासजी ने भी आधार लिया था उनके बाद और बट हुएवा ने भी का यह किया था।

कीमत तो तब कही, जब कि जिसका कहा हुआ कहा जाता हो, वह अमर्त्य और मिथ्याभाषी हो । जो श्री सर्वज्ञ भगवान द्वारा कथित है और जो श्री सर्वज्ञ भगवान के वचनों का अनुसरण कर कहा गया है, उसे कहने में तो कीमत ही है । इससे सिद्ध होता है कि कहने वाले को अपने ज्ञान की न्यूनता का मान है । ज्ञान की न्यूनता होने पर भी कई जैसा जानी होने का मिथ्याडंबर करते हैं, वैसा मिथ्याडंबर ये करते नहीं तथा अपने अन्दर ज्ञान की न्यूनता होने में अज्ञानतावश भी मिथ्या वचन उत्सृज्य वचन बोलने में अपना या पराया हित गड़ित न हो जाए इसकी भी उन्होंने सावधानी रखी है । ऐसे उत्तम गुण सम्पन्न जीव के लिए ऐसा कैसे कहा जाय कि ये हमारे का कथन करते हैं, जब उनके कथन की कीमत क्या ? ऐसे उत्तम गुण सम्पन्न जीव के लिए, ऐसा तो वे ही कहेंगे जो बहुत ही निम्न हो ।

चोरी करके लेखक और कवि कहलाने का

सम्पन्न करने वाले भी हैं :



शा

र

त्र

प्रस्तावना

विभाग



इस बात का प्रस्तावना के वाचक को परिचय हो जाय। प्रस्तावना वाचक के हृदय पर ऐसा असर हो कि मुझे यह ग्रन्थ सागोपाग पढ़ना और मनन करना चाहिये। जो प्रस्तावना ग्रन्थ के महत्व को समझाती न हो, और ग्रन्थ में वर्णित विषयो का परिचय देती न हो, वह प्रस्तावना वास्तव में प्रस्तावना ही नहीं ? प्रस्तावना पढ़ने वाले को पढ़ते समय ऐसा लगे कि अहा ! इतना अधिक सुन्दर और महत्वपूर्ण यह ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में वर्णित पद्धति भी इतनी अधिक सुन्दर है ? और इस ग्रन्थ में इतने अधिक विषयो का वर्णन है ? इसका नाम प्रस्तावना। टीकाकार महर्षि तो महान विद्वान् हैं, अतः इन महापुरुष ने यह जो प्रस्तावना लिखी है वह ऐसी ही है।

शास्त्र प्रस्तावना :

महर्षि रङ्ग और अभिषेक कथन के पश्चात् इस शास्त्र की प्रशंसा करते हुए टीकाकार महर्षि कहते हैं कि—

इस बात का प्रस्तावना के वाचक को परिचय हो जाय । प्रस्तावना वाचक के हृदय पर ऐसा असर हो कि मुझे यह ग्रन्थ सागोपाग पढ़ना और मनन करना चाहिये । जो प्रस्तावना ग्रन्थ के महत्व को समझाती न हो, और ग्रन्थ में वर्णित विषयो का परिचय देती न हो, वह प्रस्तावना वास्तव में प्रस्तावना ही नहीं ? प्रस्तावना पढ़ने वाले को पढ़ते समय ऐसा लगे कि अहा ! इतना अधिक सुन्दर और महत्वपूर्ण यह ग्रन्थ है । इस ग्रन्थ में वर्णित पद्धति भी इतनी अधिक सुन्दर है ? और इस ग्रन्थ में इतने अधिक विषयो का वर्णन है ? इसका नाम प्रस्तावना । टीकाकार भर्षि तो महान विद्वान है, अतः इन मन्त्राण्युक्त ने यहा जो प्रस्तावना लिखी है वह ऐसी ही है ।

शास्त्र प्रस्तावना :

मन्त्राण्युक्त और अभिधेय कथन के पश्चान्ता उक्त शास्त्र की प्रस्तावना करते हुए टीकाकार भर्षि परमात्मे है कि—

कड़वी जहर जैसी है, तो इसमें जहर की उपमा आई, परन्तु इस उपमा के साथ सम्बन्ध कितना ? कडुआहट तक ही सीमित । दवाई भी कडुई और जहर भी कडुआ इसीलिये यह उपमा । बाकी गुण-दोष में तो महान अन्तर । दवाई रोगी को स्वस्थ बनाए जबकि जहर स्वस्थ को भी रोगी बनाकर मारे । यहा की उपमा ऐसी नहीं, परन्तु यह सूत्र एक हाथी के समान है, समुन्नत जयकुंजर के समान है ऐसा कहा गया है । इसलिए सहज ही प्रश्न उठता है कि समुन्नत जयकुंजर के अग्रे २ अंग है, तो क्या ये सभी इस सूत्र में हैं ? टीकाकार महर्षि कहते हैं कि हाँ—ये सभी हैं । इसीलिये तो 'समुन्नत-जयकुंजरस्यैव' ऐसा बताया, जयकुंजर में जो-२ महत्व का होता है, यह मात्र इस पाँचव अंगसूत्र में किस प्रकार घटित होता है यह बताया है । यह बताने के बाद टीकाकार महर्षि ने, किस प्रकार नाशिका रूप में टीका शुरू की जाती है, यह भी कहा है ।

जयकुंजर से भी जय दिलवाने की प्रबल शक्ति इस सूत्र में है :

राजा बनकर उन्हें अपनी साधु जीवन जीने की भावना को जाने देनी न थी। यदि पिता की आज्ञा भी पालन हो और साधु जीवन-यापन करने की अपनी भावना भी सफल हो, ये दोनों शक्य हो, तो पिता की आज्ञा पालन करते। यदि अपनी साधु जीवन जीने की भावना निष्फल जाती हो तो उसके लिए श्री अभयकुमार कदापि तैयार न थे। श्री अभय कुमार ने श्री श्रेणिक को जो प्रतीक्षा करने की बात कही, वह इसी कारण से कही थी।

आवक में सभी भावनाओं में प्रधान भावना
साधु जीवन प्राप्त करने की
होनी चाहिये :

श्री अभयकुमार की यह मनोवृत्ति समझ में आती है। सुख-यन्त्रों की मनोवृत्ति कैसी हो, उसका श्री अभयकुमार के इस प्रसंग में सम्बन्ध दर्शन है। आवक की मन्त्रमें प्रथम यदि कोई भी भावना हो तो वह साधु जीवन जीने की हो। आवक माना पिता की आज्ञा का पालन करने वाला नहीं होता आवक जहां तक शक्य हो वहां पर पिता की आज्ञा का पालन करने की वृत्ति वाला हो हो, अपने

भगवान को पूछकर ही 'पिता की आज्ञा के खातिर भी राज्य लेना या नहीं ?' इस सम्बन्ध में निर्णय करने का विचार रखा ।

इससे, यह न समझे कि भगवान कहे तो राज्य लेना ऐसा श्री अभयकुमार का विचार था !

भगवान भला राज्य ग्रहण करने के लिए कहते होंगे क्या ? भगवान राज्य ग्रहण करने का कहे अथवा राज्य को भी छोड़ने की बात कहे ? महाराजा श्री भरत जैसे भी समझते हैं कि 'राज्य नवतरोर्ध्वजम्' अर्थात् राज्य ससार रूपीवृक्ष का शीर्ष है और भगवान ऐसे राज्य को ग्रहण करने की बात कहे—क्यों यह संभव है । भगवान को नान तो दूर रही, परन्तु माधु भी राज्य को ग्रहण करने का वर नहीं । मगर तो किसी भी क्रिया में माधु की अनुमति होगी ही नहीं । मगर तो क्रिया में यदि कोई भी माधु भूत से भी अनुमति दे दे तो वह माधु भी पाप में लिप्त होना है ।

तो फिर श्री अभयकुमार जैसे समझदार, श्री श्रद्धानु ने भगवान को पूछकर ही 'पिता की आज्ञा के खातिर भी राज्य लेना या नहीं ?' इस सम्बन्ध में निर्णय करने का विचार रखा । समझ कारण क्या ?

अष्ट बना डालता है ? स्वयं पुत्र है और ये पिता हैं यह बात भी वह भूल जाता है । ससार में क्या संभव नहीं ? मानव का अशुभोदय जब प्रबल होता है, तब सगी पत्नी, सगा पुत्र, सगा भाई या सगा पिता भी भयकर से भयकर कोटि के शत्रु का कार्य सम्पादित कर बैठते हैं और इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं । इस ससार में ऐसी और इसमें भी भयकर घटनायें संभावित हैं, परन्तु पुण्योदय के योग से प्राप्त अनुकूलताओं में तल्लीन बने हुए मधु बिन्दु जैसे ससार के सुगों को स्वप्न को पहिचान सकते नहीं और इसीलिए वे इन सुगों के पीछे पावग होकर फिरते हैं ।

कुणिक का संरभाव पूर्वभव से हो था :

प्रश्न : कुणिक का अपने पिता के प्रति संरभाव होने का कारण क्या ?

रुक न जाये इसके लिए कुशिक ने अपनी जाघ हिलने तक न दी। पुत्र जब पेशाव कर चुका तो कुशिक पेशाव युक्त जितना अन्न था, उसे अपने हाथ से अलग करके उसी थाल में वह पुन खाने लगा। इस प्रकार भोजन करते करते वह अपने पुत्र प्रेम का मन ही मन अनुमोदन करने लगा। इसे लगा कि मैं अपने पुत्र पर कितना अधिक असीम प्रेम रखता हूँ। वह ऐसे विचार करता ही था, उसकी दृष्टि अपने पास बैठी हुई अपनी माता चेल्लणा देवी पर गिरी। अतः पुत्र प्रेम के हर्षविश में वह गूँहे उमने, अपनी माता से पूछा—'क्या माता भूतकाल में किसी को भी अपना पुत्र इतना अधिक प्रिय लगा होगा। अथवा वर्तमान में भी कोई ऐसा होगा क्या जिसे अपना पुत्र मेरे जितना प्रिय हो।'।

कितनों के पुत्र बने और
कितनों को पुत्र बनायें ?

ऐसे उत्तर को प्राप्त कर, जरा भी क्षुभित हुए बिना कुण्डिक ने भगवान से पूछा—'मैं सातवे नरक में क्यों नहीं जाऊँगा ?'

भगवान 'तू चक्रवर्ती नहीं है। जो चक्रवर्ती होता है उसके पास तो चक्रवर्ती के योग्य सामग्री होती है। जैसे जहा धर्म होता है, वही धर्म अवश्य होता है।

यहा यह बात भी तुम्हारे ध्यान में रखनी है कि भोगादि का जीवन पर्यन्त परिन्याग नहीं करने वाले चक्रवर्ती सातवे नरक में जाते हैं और इनके सिवाय अन्य कोई जीव सातवे नरक में जाते ही नहीं। ऐसी बात नहीं है। अन्य जीव भी सातवें नरक में जाने वाले हो सकते हैं। मनुष्य गति और निर्यव गति में से भी अन्या होकर सातवे नरक के योग्य प्रायुष्य कर्म का उपाजन कर सातवे नरक में भी जाते हैं। अतः यहा भगवान ने जो सूचित किया है कि चक्रवर्ती नहीं है अतः तू सातवे नरक में नहीं जाएगा यह इसीलिए सूचित किया कि कुण्डिक को ऐसा मय था कि मैं चक्रवर्ती ही हूँ। उसने जब पुनः सब स्थिति बखर्की है ऐसी उमरी जो मय था मिथ्या मानना था अतः भगवान ने इन प्रमाण उत्तर दिया था।

अतः सातवे नरक में जाकर कि 'तू चक्रवर्ती नहीं है तब पुनः कुण्डिक ने भगवान से पूछा कि मैं सातवे नरक में क्यों नहीं जाऊँगा ?

भगवान ने उत्तर दिया कि 'चक्रवर्ती के पास जो सब है वह सब ही सातवे नरक में जाते हैं। फिर भगवान ने ऐसा भी कहा कि 'तू सातवे नरक में जाते हो तब ही तू सातवे नरक में जाते हो।

अतः भगवान ने सातवे नरक में जाकर कि 'तू चक्रवर्ती नहीं है तब पुनः कुण्डिक ने भगवान से पूछा कि मैं सातवे नरक में क्यों नहीं जाऊँगा ?

इससे उसके दुःख की अवधि न रही। उसके हृदय में इतना अधिक क्लेश हुआ कि उसके निवारण हेतु मंत्रियों ने पिंडदान का कृत्रिम उपाय ढूँढ निकाला। इससे उसे कुछ शांति मिली। फिर भी जब वह पिता की शय्या, पिता का आसन, आदि देखता, तब-२ उसके हृदय में शोक उत्पन्न हुए बिना रहता न था। इससे उसके लिये राजगृही में रहना भी असह्य हो गया। अतः उसने चम्पा नामक एक नवीन नगरी में ही कुणिक सपरिवार रहने लगा।

श्री हल्ल विहल्ल के पास से हाथी
आदि ले लेने का रानी पद्मावती
का कुणिक को आग्रह :

अब श्री हल्ल विहल्ल का प्रसंग आता है। यह प्रसंग श्री स्वभाव सुलभ दीर्घा और विषयाधीन सुलभ स्त्रीत्व में से उत्पन्न है। आपकी याद तो होगी ही कि श्री अभयकुमार और श्रीमती नंदा ने दोआने में मगध श्री हल्ल विहल्ल को दिव्य कुन्वी की जोड़ी तथा दिव्य वस्त्र युक्त अतिनिराले, और उनके बाद कुणिक को मगध की राजकी सेवा में श्री अंगिक ने श्री हल्ल विहल्ल को मैतवह लक्ष्मी नंदा अथवा नंदी का राज अतिनिराले किया था।

भाई करे, इससे बड़े भाई के प्रति उन्हें गुस्सा आ जाय । यह बात भी आपको अपने वृद्धजनो वन्धुजनो अथवा पुत्रादि परिवार के प्रति और आगे बढ़कर कहें तो अन्य किसी के प्रति भी दुर्भाव पैदा करने वाला न बने, इस बात का तो आपको ध्यान रखना चाहिये । ऐसे सावधानी बनी रहे और अवसर आने पर भी इसमें कमी आने न पाए इसके लिए 'धनादि का ममत्व मारक है, हेय है'—ऐसी विचारणा नित्य करनी चाहिए ऐसे-२ विचारो से ममत्व मन्द बने और अन्त में नष्ट हो जाए,—ए सा आपको करना चाहिये ।

श्री भरतजी के ६८ भाईयों के प्रसंग की याद .

आप कदाचित्त जानते होंगे कि यहाँ जैसा प्रसंग उल्लिखित हुआ है वैसा प्रसंग महाराजा श्री भरत के समय में भी उल्लिखित हुआ था । श्री कृष्णभदेव भगवान् अपने सभी पुत्रों को राज्य वाटिका प्रसजित हुए थे । उनके बाद श्री भरत चक्रवर्ती बनने वाले थे और चक्रवर्त्तन प्राप्त हुआ और उन्होंने छहों खण्ड नाथ लिये । छहों खण्ड प्राप्त होने पर भी चक्रवर्त्तन आयुधशाला में प्रविष्ट होता नहीं क्योंकि श्री भरत महाराजा के निष्पानके भाईयो ने श्री भरत महाराजा

ऐसा विचार करके न तो मन को मनाया और न उसने अपने द्वारा हुई भूल को सुधारने का विचार किया ।

उसने तो ऐसा विचार किया कि भले ही जो होना था वह हो गया, परन्तु अब तो मुझे आए हुए कष्ट का निवारण करना ही चाहिये । अब तो मुझे अपने दोनो ही भाईयो को पुनः लाने ही चाहिये । यदि मैं अपने उन दोनो भाईयो को वापिस नहीं लाता हूँ तो मुझ में और बनिये में अन्तर ही क्या ?

कुणिक की यह कैसी विचित्र मनोदशा है ? उसने हर्ष आदि की माँग करने की भूल की—इस बात को वह प्रधानता नहीं देना बल्कि उसके भाई उसी कारण से उसे अंधेरे में रखकर चले गए उस बात को वह अपने महान् पराभव का सा महत्व देकर इसे यदि वह जाने दे तो उसमें स्वयं का गौरव नष्ट हो जाए—इस प्रकार विचारणा करता है । कुणिक अपनी भूल को समझा है, अपनी भूल का उसे ग्याण न आया हो, ऐसी बात नहीं है, फिर भी वह अपने को मानता है कि मुझे अपने गौरव की रक्षा के लिये क्या करना चाहिये ।

श्री जिनवचन का राग तिराता है और

ऐसा विचार करके न तो मन को मनाया और न उसने अपने द्वारा हुई भूल को सुधारने का विचार किया।

उसने तो ऐसा विचार किया कि भले ही जो होना था वह हो गया, परन्तु अब तो मुझे आए हुए कष्ट का निवारण करना ही चाहिये। अब तो मुझे अपने दोनों ही भाईयो को पुन लाने ही चाहिये यदि मैं अपने उन दोनों भाईयो को वापिस नहीं लाता हूँ तो मुझ में और बानिये में अन्तर ही क्या ?

कुण्डिक की यह कैसी विचित्र मनोदशा है ? उसने हस्ति आदि की माँग करने की भूल की—उस बात को वह प्रधानता नहीं देता बल्कि उसके भाई इसी कारण से उसे अघेरे में रखकर चले गए उस बात का वह अपने महान् पराभव का सा महत्व देकर इसे गति नष्ट जाने दे तो उसमें स्वयं का मोह नष्ट हो जाए—इस प्रकार विचारणा करता है। कुण्डिक अपनी भूल को समझा है, अपनी भूल का उसे शयान न थागा हो ऐसी बात नहीं है, किन्तु वह अपने भाग्य को नहीं देखता है कि मुझ अपने मोह ही क्या बानिये क्या करना चाहिये।

श्री जिनवचन का राग निराता है और

स्वयंचन का राग स्खोता है :

इस युद्ध में एक दूसरे के सैनिक कितने थे, प्रत्येक के साथ कितने कितने हाथी घोड़े रथ आदि थे, तथा एक दूसरे ने कैसी कैसी ब्यूह रचनाये की थी इन बातों की चर्चा हम यहाँ नहीं करेंगे।

युद्ध के प्रथम दिन कुणिक ने अपने प्रथम भाई काल को सेनापति बना कर युद्ध हेतु भेजा, पर वह श्री चेटक के बाण से मारा गया। दूसरे दिन दूसरे भाई को कुणिक ने सेनापति बनाकर युद्ध करने भेजा तो वह भी दूसरे दिन श्री चेटक राजा के बाण से मारा गया। इस प्रकार दस दिन के युद्ध में कुणिक के दसो ही भाई श्री चेटक राजा के बाणों के शिकार बने।

दिव्य सहायता प्राप्त करने का प्रयत्न :

उमसे कुणिक हताश हो गया, श्री चेटक के साथ युद्ध करने हेतु जाने में उमने भूल ली, यह भी उमने महसूस किया परन्तु दस भाईयों को मृत्यु के मुग में डोम देने के पश्चात् पीछे कैसे मुड़ा जाय ? इस विचार में कुणिक को व्यामूल बना दिया। इसलिए उमने देवता की प्रार्थना करने का निर्णय किया। दैविक महाप्रणाम कर श्री चेटक राजा का जीतने की उसकी दम्नता थी।

उमने देवताओं का ध्यान किया तब के ध्यान में वह स्थिर रहा। कुणिक ने पूर्ण ध्यान में आकर देवता का स्वर आवाज सुनी। उसने देवताओं का ध्यान किया तब देवता महाप्रणाम करने की आज्ञा देकर उमसे दृष्टि दी। उस देवता की आज्ञा महाप्रणाम मिली। तब देवता उमसे कहा कि तब ही श्री चेटक राजा के बाण से मारा जाय।

श्री हल्ल विहल्ल कुणिक की सेना मे घुस कर उसकी काफी सेना का सहार कर रात मे ही सकुशल वैशाली नगरी मे पहुँच सकते थे ।

कुणिक ने हाथी को मारने के लिये
किया हुआ उपाय :

ऐसा होने से वित्कुल वैशाली नगरी के द्वारा तक पहुँचे हुए कुणिक को पुन चिन्ता हुई क्योंकि बिना युद्ध के भी उसकी सेना का बड़ा भाग नष्ट हो चुका था ।

इसमे उसने अपने मन्त्रियों को बुलाकर कहा कि इस प्रकार तो हमारी सम्पूर्ण सेना को हल्ल विहल्ल खत्म कर डालेंगे, अत इसका कृत्र उपाय करना चाहिए ।

मन्त्रियों ने कुणिक से कहा कि आपकी बात सच्ची है, परन्तु जब ना हल्ल विहल्ल सेचनक हाथी पर बैठ कर आते हैं, अतः तब तो उन्हें जीतना असम्भव ही है । अत करना तो यह चाहिए कि जिसमे सेचनक हाथी की ही मृत्यु हो जाय । उसके लिये मन्त्रियों ने अपने के मार्ग मे एक नयी गार्द खुदवाकर उस गार्द के भीतर व अगले के भग्ना द और फिर उस टंक द । फिर सेचनक आते ही उस गार्द मे दौड़ा दूँगा आया, तब वह उस गार्द मे जाकर उस गार्द मे पड़ा पड़ा ही वह मर जायेगा ।

इस प्रकार का उपाय उचित लगा, अतः उसने अपना मत माना और उस गार्द मे पड़ा पड़ा ही वह मर जायेगा ।

के पाम तो, जयकु जर को जय दिलवाने की शक्ति किसी विसात की नहीं । जयकु जर को प्राप्त करने से स्वायत्त तो अवश्य प्राप्त होता है जय ही प्राप्त होती है, कभी भी इसका पराभव नहीं होता, परन्तु यह जय केवल इस लोक के शत्रुओं तक ही सीमित है । इस जय का लाभ, इस जय का राग, इस जय को प्राप्त करने हेतु कृत हिसाब इन सब के प्रताप ने ऐसा कर्म बन्धन होता है कि यदि उसकी तप गयमादि ने निर्जरा न की हो और उसके उदय को भोगने का समय आ जाए, तो उसके प्रताप ने आत्मा को छितने ही भवों में पराजय भोगनी पड़ती है, जबकि श्री भगवतीजी सूत्र के ज्ञान को प्राप्त कर, यदि इन ज्ञान की स्वायत्त बना दे, तो दोनों लोकों में जय वाला बन कर, मदा विजयी रहने योग्य श्री गिद्धगति की स्थिति प्राप्त करता है । अतः जय के लिये जयकु जर को ढूँढकर, प्राप्त कर और अपना बनाकर मुक्त प्राप्त करना है—ऐसा विचार भी बन्धुत करने योग्य नहीं है । जय चाहिये तो उस लोक में भी जय दिलवाए, परन्तु उस में भी जय दिलवाए और अन्त में मदा के लिये विजयी बनाए, तभी परमदा प्राप्त होगी, ऐसी अनुवम शक्तिमय श्री भगवतीजी सूत्र के ज्ञान का सम्पादन कर, इस ज्ञान को स्वायत्त अर्थात् आत्म-स्वयत्त बनाने के लिये प्रवृत्त होना करना वही बुद्धिमत्ता पूर्ण कार्य है ।

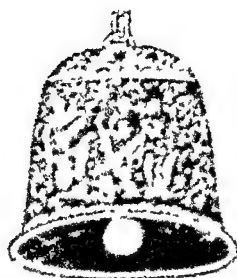
मुमक्षत विशेषण से कौन से
विशेष का मूलन है ?

प्रयोग द्वारा उत्तमता का सूचन नहीं किया गया है, परन्तु और ही कुछ सूचन किया गया है, यह बात आप समझ सके होंगे ।

समुन्नत विशेषण से पूर्ण युवावस्था का सूचन :

आप जानते होंगे कि प्रत्येक जीव प्रायः युवावस्था में ही अधिक में अधिक सुन्दर दिखाई देता है । दुनिया में कहावत भी है कि—जवानी में गंधी भी सुन्दर लगती है । 'सुन्दर' व्यक्ति जवानी में अधिक सुन्दर दिखाई देता है और काला भी व्यक्ति जवानी में सामान्य रूप में जैसा प्रिय लगे ऐसा सुन्दर दिखाई देता है । अत्यधिक काले बालों को, फ्राँट या बद्ध को देना और अत्यन्त काले जवानों को भी दगों तो आपको दोनों में बड़ा अन्तर लगेगा । ऐसा क्यों ? जवानी में सभी अंगोंपांगों को सुन्दरता मिल उठती है । जवानी के पक्ष में भी उसमें कमी होती है और जवानी बीतने पर भी उसमें कमी ले पड़े । उमरा विचार करें कि जबतक वह बड़ा शोभायमान होता है तब वह कम उमर में होता है, परन्तु उमरा शोभा और उमरा सामर्थ्य उसको जैसा ही अवस्था में सबसे अधिक मिल रहा है ? तब तो ही पता चले कि जबतक ही शोभा और उमरा सामर्थ्य भी उसकी पक्ष में ही सबसे अधिक मिले होते हैं । उस अवस्था में वह जैसा शोभायमान होता है और जैसा शक्तिशाली होता है, जैसा वह होता है

शोभापात्र बनाता है और शत्रुओं के सामने इसका उपयोग करे तो जय दिलवाता है, जय ही दिलवाता है, जय दिलवाता ही है, उसी प्रकार यह श्री भगवतीजी सूत्र भी जहा रहा हो वहाँ शोभा देता है, इसके दर्शन मात्र से भी दर्शन को शोभा देता है और यदि इस श्री भगवतीजी मूत्र का सदुपयोग करना आए, सारी सवारियों को छोड़कर यदि इसी की मात्र भाव सवारी आत्मा करे तो यह श्री भगवतीजी मूत्र इस लोक में भी जय दिलवाता है, परलोक में भी जय दिलवाता है और परम्परा में सदा के लिये जयवन्त बना देता है।



पद्धति में जनमन का रजन करने का गुण है—इसमें शका नहीं, क्योंकि यह पद पद्धति ललित है, परन्तु ललित ऐसी भी इस पद पद्धति से कैसे लोगों के मन का रजन होना संभव है—यह जानने की आवश्यकता है। सर्व जनो के मन का रजन ऐसी ललित भी पद पद्धति से हो यह संभव नहीं, क्यों कि इस पद पद्धति में जो लालित्य रहा हुआ है, उस लालित्य को सर्व जन जान सके, पहिचान सक, यह संभव नहीं। इसमें पद पद्धति के लालित्य की कमी नहीं कही जा सकती, परन्तु जिन व्यक्तियों के मन का रजन ऐसी पद-पद्धति में न हो ऐसे व्यक्तियों की कमी कही जा सकती है। इसलिये तो टीकाकार महर्षि ने 'जन मनोरजक' न कह कर 'प्रबुद्ध जन मनोरजक' कहा है। यह पद पद्धति प्रबुद्ध जन के मन का रजन करने वाली है—ऐसा कहा है। मूर्ख व्यक्ति चान में ममक क्या? हाथी की चान अच्छी या गधे की चान अच्छी, उसका निर्णय मूर्ख क्या देगा? गधे को विनयशून्य व्यक्ति ही कह सकते हैं कि हाथी की चान मगर उग्रम और भी उन-२ पाश्र्वों में उत्तम। इसी प्रकार मूर्ख के पदों की पद्धति ललित होने पर भी जो इस लालित्य को जानने में सक्षम हो, उसे इस लालित्य का कारण मनोरजन का अनुभव कर लेता है। ऐसे पद पद्धति का ज्ञान नाग, कितावकार, टीकाकार पद्धति द्वारा मनोरजन का अनुभव नहीं कर पाता। बुद्धिमान व्यक्ति का ज्ञान ही यह, यह पद पद्धति मूर्ख जन के मन में है और ललित पद्धति का जोय हुआ है, उसे पद पद्धति का ज्ञान ही है। इसलिये ही पद पद्धति का ज्ञान ही है। इसलिये ही पद पद्धति का ज्ञान ही है।

इसका भी मन्त्र में आता

ऐसा कहा जाता है :

प्रबुद्धजन अर्थात् विद्वान और अधिकार सम्पन्न मुनिजन

इसीलिए यहा टीकाकार महर्षि ने स्पष्टीकरण कर दिया है कि श्री भगवतीजी सूत्र मे जो पद पद्धति है, वह ललित जो अगम्य है परन्तु वह प्रबुद्ध जनो के मन का रञ्जन करने वाली है। 'जन' शब्द के पहिले 'प्रबुद्ध' विशेषण रखकर टीकाकार महर्षि ने बहुत ही अच्छी और बड़े ही महत्व की स्पष्टता कर दी है। यहा प्रबुद्ध शब्द मे 'पदो का अर्थ समझ सके तथा पदो की चाल भी समझ सके ऐसा व्याक्त'—इतना अर्थ लेने के साथ, 'मोक्ष का अर्थ और मोक्ष के लिए गच्छे मार्ग पर प्रयत्नशील' ऐसा अर्थ लेने को भी आवश्यकता है। मोक्ष का अर्थ भी हो और मोक्ष के लिए गच्छे मार्ग पर प्रयत्नशील भी हो फिर भी वह पदो के अर्थ को और पद पद्धति के लालित्य को समझ न सके—यह भी समझ दे—क्योकि वह मानावरणीय कर्म के मर्मोत्तम का विषय है, परन्तु पदो और पद्धति के लालित्य तो समझ सकते हैं। समझ जाय यदि मोक्ष का अर्थ हो और भगवान द्वारा दिया गया मार्ग पर ही प्रयत्नशील हो तो वह इस पद पद्धति का अर्थ है और वह भी फिर निर्दिष्ट आनन्द का अनुभव

कर्म के बधन तोड़ने का पुरुषार्थ करना चाहिये :

कर्म के बन्धन में फँसी हुई एक-२ आत्मा को यह बात अवगत
लक्ष्य में रखनी चाहिये। कर्म के बन्धन में फँसी हुई आत्मा को, मा
से पहिले तो इस बात पर ध्यान देना चाहिये कि मुझे जो भी दुःख
या दुःख की सामग्री प्राप्त होती है, वह मेरे शुभाशुभ कर्मों से ही
प्राप्त होती है और इन शुभाशुभ कर्मों का कर्ता अन्य कोई नहीं पर
मे स्वयं ही हूँ। इसलिये मुझे अपना ही किया हुआ भोगना है, इन
प्रसन्न होकर या अप्रसन्न होकर, पागल बनने जैसा क्या है? मे
लिये चिन्ता करने योग्य यदि कोई भी वस्तु है, तो वह यह है कि
मेरा मुग वतमान में मेरे कर्मों के अधीन है। सुख—यह तो मेरा
स्वभाव है। उस स्वभाव के अनुभव में अन्तराय करने वाला—वह
मेरा कम बन्धन है। इसलिये मुझे प्राप्त अथवा प्राप्त होती मुझ में
या दुःख की सामग्री में मेरे लिये न तो प्रसन्न होने जैसा दुःख है न
गोने जैसा दुःख है। मुझे तो किसी भी सामग्री का योग प्राप्त हुआ
हो तो भी मेरे पुरुषार्थ का उपयोग कर मेरे कर्मबन्धन का क्षेपण कर
ना प्रयत्न करना ही मेरे योग्य करणीय वस्तु है। मुझे अपने लिये
य वस्तु का क्षेपण करना हो तो मेरे पूर्वकृत जो-२ शुभ कर्मों का
फल प्राप्त होना चाहिए, उन कर्मों के द्वारा मुझमें स्थिति में समभाव हो
जाय। इससे मेरा चित्त और उसके साथ ही कर्म के साधन
का ही निष्ठा का पुरस्कार करना चाहिये।

[illegible]

कि अधैर्य से वह मूढ़ और मौन हो गया ।

कपिल को ऐसा दुखी बना हुआ देखकर दासी ने कहा—
‘आप खेद न करें। एक उपाय है। इस नगर में धन नामक जोनेठ
है, उसे जो कोई भी रात पूर्ण होने के साथ ही जगाता है वह उसे
दो माशा सोने का दान देता है। आप आज की रात पूर्ण के पूर्व ही
उस सेठ के घर जायें और कल्याण राग में मधुर गीत गाये।

इसे दया नहीं करते

कपिल को भी यह बात पसंद आ गई और उसने वैशा करने की तत्परता दिखाई यह भी काम राग का ही एक प्रकार है। इसमें दया नहीं। दाम्नी का दुःख दूर करने की इच्छा है और फिर भी यह दया नहीं। जैसे पूर्व में कहा गया है कि अध्ययन हेतु ही प्रेरणा होती है। हम भी वर ज्ञान प्रेम नहीं, उम्मी प्रसार यहाँ दाम्नी के दुःख के निवारण की तीव्र इच्छा होने पर भी यह दया नहीं यह क्यों? दुःख निवारण की जो इच्छा है, वह काम राग से उत्पन्न है। इसलिये यह दुःख अपनी राग पाव दाम्नी का था इसलिए नृभता था और यह दुःख अपनी राग पाव दाम्नी का था इसलिये उसके निवारण की इच्छा प्रकट हुई थी। इसलिये हम मान या कह नहीं सकते कि इसमें दया है। दुःख भी स्थायी न होता तो हमें दया माननी चाहिए, मगर दुःख देना जाता है, पर किया दुःख यह नहीं है।

विष्णु वसुधा मेधा

१. २. ३. ४. ५. ६. ७. ८. ९. १०. ११. १२. १३. १४. १५. १६. १७. १८. १९. २०. २१. २२. २३. २४. २५. २६. २७. २८. २९. ३०. ३१. ३२. ३३. ३४. ३५. ३६. ३७. ३८. ३९. ४०. ४१. ४२. ४३. ४४. ४५. ४६. ४७. ४८. ४९. ५०. ५१. ५२. ५३. ५४. ५५. ५६. ५७. ५८. ५९. ६०. ६१. ६२. ६३. ६४. ६५. ६६. ६७. ६८. ६९. ७०. ७१. ७२. ७३. ७४. ७५. ७६. ७७. ७८. ७९. ८०. ८१. ८२. ८३. ८४. ८५. ८६. ८७. ८८. ८९. ९०. ९१. ९२. ९३. ९४. ९५. ९६. ९७. ९८. ९९. १००.

प्रयत्न करे, उन सबका दुःख अवश्य ही जाए और उन सबको सुख
अवश्य मिले ही ऐसा नहीं होता। इस प्रयत्न से, दुःख जाने के बजाय
अपना जो कुछ थोड़ा बहुत सुख होता है वह भी चला जाता है और
दुःख में वृद्धि ही होती है ऐसा भी प्रायः होता है। ऐसे उदाहरण
प्रत्यक्ष होने पर भी और ऐसा स्वयं को भी पुनः पुनः अनुभव होने पर
भी जो कर्म की सत्ता के अस्तित्व को मानने से इनकार करते हैं, वे
चाहे जितने बुद्धिशाली हो, परन्तु सम्यग् विचारणा हेतु तो उनकी
बुद्धि कुठित ही बन गई है ऐसा कहना पड़ता है। इसी प्रकार जो
लाग अपने ऊपर की कर्म की सत्ता से होने की इच्छा नहीं रखते,
उनकी कर्म सत्ता के अस्तित्व सम्बन्धी मान्यता भी पगु ही है। माना
यदि माय अपने भी अनुभवों के सम्बन्ध में विचार करे और बुद्धि का
सदुपयोग करे, तब भी उसे लगेगा कि 'इस समय मैं दुःख के निवारण
और सुख के सम्पादन हेतु जिस प्रकार का प्रयत्न और जिस दिशा में
प्रयत्न कर रहा हूँ, वह मेरा प्रयत्न उल्टा है और विपरीत दिशा में
है। यदि इतना भी समझ में आ जाय तो उसे कर्म के बन्धन में मुक्त
होना, यही मारे दुःख के निवारण का और सारे सुखों के सम्पादन
के लिये उपाय है ऐसा लगे और उमगे वह भी हूँ कि मुझे कर्म
के बन्धन में मुक्त होने हेतु ऐसा प्रयत्न करना चाहिये। परन्तु जहाँ
तक मैं इस उपाय का भाग प्रायः मुक्त जैसा हो बन कर दूँगा
उस उपाय का भाग प्रायः मुक्त जैसा हो बन कर दूँगा'।

अ ये आवृत्ति और मिले सम्पत्ति

ऐसा भी होता है

इस प्रकार जो इस प्रकार का प्रयत्न करे, वह भी मुक्त हो जायगा।
इस प्रकार जो इस प्रकार का प्रयत्न करे, वह भी मुक्त हो जायगा।
इस प्रकार जो इस प्रकार का प्रयत्न करे, वह भी मुक्त हो जायगा।

जहां से दण्ड पाने की सम्भावना थी, वही से कपिल को दण्ड मिली और दान पाने का सुअवसर उसने प्राप्त किया।

कपिल ने कहा 'मैं सोचकर मांगूंगा।'।

राजा को इस प्रकार कह कर कपिल, 'राजा के पास क्या मांगू?' इस सम्बन्ध में सोचकर निर्णय करने हेतु राजा के पास अनुमति प्राप्त कर अशोक वन में गया।

कपिल की विचारणा में किसका प्रतिबिम्ब .

अब अशोक वन में जाकर कपिल एकाग्रता पूर्वक सोचने लगा कि मैं राजा के पास क्या मांगू? यहां कपिल ने जो विचारणा की है वह विशेष रूप से ध्यान में रखने योग्य है। ससार के जीवों की मनोवृत्ति का कपिल की विचारणा में प्रतिबिम्ब पड़ा हुआ है ऐसा कहे तब भी उचित है, और उसके अन्त भाग में महापुरुषों के महत्-भाव का उममें प्रतिबिम्ब है। ऐसा कहे तब भी उचित है। मनुष्यों के प्रेमी के विचारों का झुकाव कैसा होता है यह भी कपिल की विचारणा में देखने को मिलता है और विवेकी आत्माओं के विचारों का झुकाव कैसा होता है यह भी कपिल की विचारणा में जानने का मिलता है।

मानने की सम्भावना नहीं लगी थी अतः

इच्छा न थी

कपिल की विचारणा की शुरुआत दो मांगों से होती है। पहली मांग - 'राजा के पास क्या मांगू?' दूसरी मांग - 'राजा के पास क्या मांगू?'। इन दो मांगों के बीच में एक अंतर है। पहली मांग में कपिल ने राजा के पास से दण्ड पाने की सम्भावना को ध्यान में रखा है, जबकि दूसरी मांग में कपिल ने राजा के पास से दान पाने की सम्भावना को ध्यान में रखा है।

दारुण अटवी में पांच सौ चोरो
को प्रतिबोध देने गए'

अब हमने जिस बात के समर्थन हेतु केवलज्ञानी मुनिश्वर श्री कपिल का याद किये थे, वह बात आती है। उस समय राजगृही नामक जो नगरी थी, उसके अन्तराल में एक बड़ी अटवी आई हुई थी। वह अटवी अठारह योजन लंबी चौड़ी और भयंकर थी। उस अटवी में कडदास के नाम से प्रसिद्ध बलभद्र आदि पाँच सौ चोर रहते थे। ये पाँच सौ व्यक्ति चोरी का धन्धा करते थे, फिर भी वे योग्य जीव। उनमें योग्यता होने के साथ-२ उनकी भवितव्यता भी अच्छी थी। वे ऐसे जीव थे कि सुन्दर सामग्री का योग न मिलने में चोरी पर निर्वाह करते थे, परन्तु यदि उन्हें सुन्दर सामग्री का गुण प्राप्त हो जाए तो वे अवश्य प्रतिबोध पायें, दीक्षा ग्रहण करें और सुन्दर आराधना भी करें।

उन योगों को सुन्दर भवितव्यता ने ही मानो प्रेरणा की है कि केवल जानी बने हुए श्री कृष्ण मुनीश्वर ने देगा कि ये जीव प्रायश्चित्त के योग्य है, और उगनिधे से मुनीश्वर उन योगों पर उपहार करने देन उन योगों को अष्टवी की ओर ही प्यारे ।

१०. नौ गोरु बालना छटवी में रहते थे, सब भी बड़ी मगरमच्छ पुराने
 रहते थे। छटवी की सीमा पर वे जंगल को घेरे ही थे कि शरणागत
 नौ गोरु बालना छटवी पर आया न जाया या पकड़ न ले गए। इस
 समय नौ गोरु बालना की सीमा पर बालना बालना का म
 बालना बालना की सीमा पर बालना बालना का छटवी में आते हुए देखा। इस
 ११. नौ गोरु बालना की सीमा पर बालना बालना का छटवी में आते हुए देखा। इस

सुखद लगे इतने मात्र से इसे मन का रजन करने वाली नहीं कह सकते। मन का रजन करने वाली तो तब कह सकते हैं जब इसका श्रवण या वाचन जारी न हो तब भी ये पद अपनी ललित पद्धति के कारण कान में गूँजते रहे और मन में खेलते रहे। इसीलिए कहा है कि इस सूत्र की जो ललित पद पद्धति है, वह प्रबुद्ध जनो के मन का रजन करने वाली है।

सूत्रों की रचना श्रुत ज्ञानी ही करते हैं
केवल ज्ञानी कभी भी सूत्र
रचना नहीं करते :

श्री भगवतीजी सूत्र में कुल २,८८,००० पद हैं। ये सभी पद लालित्यपूर्ण लगते हैं, क्योंकि इन पदों की योजना ललित पद्धतिमय है। मात्र साहित्यिक दृष्टि से ही ये सभी पद ललित हैं, मनोहर हैं, ऐसी बात नहीं है, साथ ही भावना की दृष्टि से भी ये सब पद ललित हैं। इन पदों में वाच्य लालित्य भी है और आन्तर तात्पर्य अर्थात् भाव लालित्य भी है। यदि एक भी पद यथार्थ रूप से हृदय में घर कर जाए, उसका भाव हृदय में जम जाए और उस प्रकार जीवन को कम कर यदि जीवन बिताया जाय, तो इसमें क्या समझ में हो मुक्ति में निवास हो जाए। इसका एक एक पद मगधनी में अभिन्न है, क्योंकि इसकी रचना करने वाले अनिशय ज्ञानी हैं। ये सब बातें धर्म होने में मोक्ष मार्ग की ही आगधना में प्रेरक होने में सक्षम हैं। जगत् का कोई भी विद्वान् विमल तो इसमें पद ही है। इस पदों का समुद्र सागर है अथवा वाः है और ऐसे वाः का जल ही है। परन्तु जिसे मोक्ष मार्ग में दिशा मिले, वह विद्वान् के विमल रूप पद अर्थात् ललित पद्धति में ही है। यह सब बातें ही हैं और दूसरी बातें हैं।

यहां स्वरूप को अव्यय क्यों कहा ?

पर्याय के परिवर्तन की दृष्टि से द्रव्य मात्र के स्वरूप में परिवर्तन आना शक्य है और ऐसा होने पर भी टीकाकार महर्षि ने इस दूसरे विशेषण में ऐसा फरमाया है कि जयकुजर जैसे उपसर्ग के निपात के समय भी अव्यय स्वरूप वाला होता है, उसी प्रकार श्री भगवतीजी सूत्र भी अपनी प्रत्येक स्थिति में अव्यय स्वरूप वाला है। स्वरूप का परावर्तन कितना अधिक शक्य है इस बात का भी टीकाकार महर्षि को पता न था ? स्वरूप का परावर्तन सभन है इसकी टीकाकार महर्षि को खबर न थी ऐसा तो कोई महा मूर्ख न होगा। हम तो कहते हैं कि स्वरूप का परावर्तन शक्य है—यह बात भी टीकाकार महर्षि अच्छी तरह जानते थे। इसीलिये प्रथम प्रश्न उपस्थित होता है कि ये महर्षि जानते थे तो फिर दोनों अव्यय स्वरूप को बनाने वाले विशेषण का प्रयोग क्यों किया टीकाकार महर्षि ने तो समझपूर्वक ही इस विशेषण का प्रयोग किया है यह हमें ही मानना पड़ेगा कि जयकुजर तथा श्री भगवती सूत्र दोनों के लिये उपयुक्त लग सकें ऐसा उन दोनों का स्वरूप ही है जिस स्वरूप को यथायथ रूप में कोई भी सूत्र जन प्रश्न के रूप में स्वीकार करे। इनने मात्र के लिये उन बात का उक्त रूप में विस्तार दिया गया है।

अथ दिग्बान बाना भी और अजय भी .

यह स्वरूप वाला सूत्र भी उपयुक्त सिद्ध हो गए श्री भगवती सूत्र का स्वरूप ही है जिस स्वरूप को जयकुजर की भाँति ही मान लो प्राप्ति होगी। अथ दिग्बान बाना भी अजय भी—यह स्वरूप वाला सूत्र भी उपयुक्त सिद्ध हो गए श्री भगवती सूत्र का स्वरूप ही है जिस स्वरूप को जयकुजर की भाँति ही मान लो प्राप्ति होगी।

कब हो ? अवसर पर ही हो न ? अवसर पर ही इसका अनुभव होता है और अवसर पर यदि अव्ययपन न रहे तो ऐसे अव्ययपन की कोई मूल्य ही नहीं । वैसे तो पराक्रम की ढींग कई हाकते हैं पर पुरुष की नीवत जब बजती है और लड़ने जाने का अवसर आता है तब भी तब वे भागते हैं पश्चिम में ऐसे को पराक्रमी नहीं कहते । मोक्ष की सच्ची कीमत कब ? कसीटी के पत्थर पर घिस कर देखा जाए तब भी सोना ही रहे, उसे छेद कर जांचा जाए तब भी सोना ही रहे । उने अग्नि में डालकर पिघला कर जांचा जाए तब भी सोना ही रहे । तब समझना कि यह सच्चा सोना है । सच्चा उदार कब मालूम हो ? स्वयं कठिनाई में हो, बड़ी मुश्किल से अपना निर्वाह करना हो, ऐसे समय में भी जिसे याचकादि को अथवा सद्बार्मिक और माधु आदि को टुकड़ा भी देने का मन हो और अवसर मिले तो दिये बिना सो भी नहीं तब ! दुनिया में दिग्गावटी बहुत और सच्चे उदार विरल । जैसे हजारों रुपये खर्च डालने हो, परन्तु हृदय से उदार न हो और कृपण हो ऐसा भी होता है । व्यक्ति को ऐसे समय में परीक्षा होती है कि कोई जानता न हो और मांगने हेतु आए हुए को शक्ति के अभाव में मांग दे दे कि मांगने हेतु आया हुआ भी नवित हो जाए । उन्ने कि मुझे पानना प्राप्त करने की आशा न थी, उसमें कई गुणों में अतिरिक्त । उनका भी यदि आदरपूर्वक दिया हो कि दान करने का मन न हो तब भी उस मांगने हेतु आए हुए व्यक्ति का मन दान करने का न बन सके वा हो । दाना को नष्ट भुग न मने, बार बार इति । तब ही दान प्राप्त, तब तब दान नष्ट जाये । मांगने हेतु आये हुए व्यक्ति को अथवा अथवा पूरा अथवा कम भी न द सकने वाला व्यक्ति ही नही उदार हो, जो मांगने हेतु आए हुए व्यक्ति का दान न कर सके वह उदार नहीं रहेगा । मांगने हेतु आए हुए व्यक्ति का दान न कर सके वह उदार नहीं रहेगा । मांगने हेतु आए हुए व्यक्ति का दान न कर सके वह उदार नहीं रहेगा । मांगने हेतु आए हुए व्यक्ति का दान न कर सके वह उदार नहीं रहेगा ।

करना अर्थात् अन्दर से बाहर निकालना । वह भी यदि वमन द्वारा निकाला जाय तो निहार नहीं कहलाता । जैसे दिव्यादि जो उपसर्ग कहलाते हैं, उनमें अनुकूल उपसर्ग भी होते हैं, और प्रतिकूल उपसर्ग भी होते हैं, उसी प्रकार व्याकरण के इन उपसर्गों के सम्बन्ध में भी अनुकूल और प्रतिकूल कहा जा सकता है । उपसर्ग किसी प्रतिकूलता पैदा करते हैं यह तो आपने देखा । इसी प्रकार अनुकूलता भी किसी पैदा करते हैं, यह भी देखो । धातु का जो अर्थ हो वही बना रहे और उसके भाव में विशेषता पैदा हो, तब उसे अनुकूलता होना कहते हैं । जैसे पत् धातु से पात शब्द बनता है । अब यह पत् धातु नि उपसर्ग लगने पर निपात शब्द बनता है और प्र उपसर्ग लगने पर प्रपात शब्द बनता है । ये निपात और प्रपात शब्द पात शब्द के अर्थ को ही व्यक्त देने वाले हैं । उपसर्गों की भाँति निपात या अव्यय किसी भी धातु के साथ मिलकर वाचक या द्योतक नहीं बनते । इन्हें अपना अर्थ प्रकट करने के लिए धातु का आश्रय नहीं लेना पड़ता । ये स्वतन्त्र रूप में अपने अर्थ प्रकट करने हैं । तीनों लिङों में समान स्वरूप वाले होते हैं, उमें अध्यय करते हैं । निपात या तो उपसर्गों में से होते हैं या निपात उपसर्ग या अव्यय भी बन सकते हैं ऐसा भी कह सकते हैं । सामान्य रूप में आपको पर्याप्त ज्ञान हो जाए, इतनी बात कह दो । वा पद यह है कि श्री भगवतीजी सूत्र में उपसर्ग भी है, निपात भी है और अव्यय भी है ।

दुसरे प्रकार में विचारने का कारण :

अचल ही रहने वाला होता है। हाथी को नमक हलाल प्राणी कहते हैं। इस अपेक्षा से भी जयकुंजर में अव्यय पद है ऐसा कह सकते हैं। इस प्रकार ऐसा भी कह सकते हैं कि जिसमें उपसर्ग, निपात और अव्यय है ऐसा स्वरूप जिसका है, ऐसा जयकुंजर है और इसी की भाँति श्री भगवती सूत्र भी उपसर्गादि स्वरूप वाला है।



विशेषणों में हम पहिले पद पद्धति के सम्बन्ध में और दूसरे स्वरूप सम्बन्धित विशेषण के विषय में विचारणा कर आए हैं। अब तीसरे विशेषण में, टीकाकार महर्षि शब्दों के सम्बन्ध में परिचय देने हेतु फरमाते हैं कि—

‘घनोदारशब्दस्य’

जयकुजर की भाँति यह श्री भगवतीजी सूत्र भी शब्दों से पूरा है। हाथी शब्द करने वाला है और श्री भगवतीजी सूत्र शब्दों से भरा हुआ है। शब्दों से सहित पन, इतना ही मात्र यहाँ बताया है, ऐसा नहीं, कैसे शब्दों में सहित पन है—यह भी बताया है। यहाँ इसी-लिये फरमाया है कि जयकुजर जो शब्द करता है वह घन और उदार होता है, इसी प्रकार श्री भगवतीजी सूत्र में जो शब्द हैं वे भी घनत्व व साथ उदारता सहित भी हैं। वहाँ घनत्व द्वारा शब्द के सम्बोधन का सूचन किया है और उदारता द्वारा शब्द की चान्ता अर्थात् मनोरमता या मधुरता का निर्देश किया गया है।

संगीत के स्वरों में कौन से स्वर की
किम में विशेषता ?

थी, वह वाणी हितकारी तो थी ही, परन्तु साथ ही गभीर और मनोहर भी थी उस समय जो कोई भगवान के शासन के रागी होंगे, अवसर को समझने वाले होंगे, कर्तव्या-कर्तव्य के ज्ञान वाले होंगे उन्हें यह वाणी खूब ही गभीर, मनोहर और हितकारी लगी होगी। इतना होने पर भी राजा गर्दभित्त को वह वाणी ग्रहितकारी, तुच्छ और कर्ण कटु ही लगी थी। तब कहना पड़ता है कि यह दोष वाणी या वक्ता का न था, परन्तु राजा के दूषित भाव का ही यह दोष था। इसमें यह समझा जाए कि चाहे जो व्यक्ति कह दे कि यह वाणी या प्रमुक्त वाणी तो तुच्छ और कर्ण कटु है, तो इतने मात्र से उस वाणी को तुच्छ या कर्णकटु नहीं मान लेनी चाहिये। इसीलिये संसार में भी प्रायः सर्वत्र शिष्ट जनों के अभिप्राय का ही महत्त्व गिना जाता है।



2

होता है। इस प्रकार इन दोनों शब्दों के अर्थों को ग्रहण कर यदि बोले, तो कह सकते हैं कि हेतुओं की रचना से युक्त यह श्री भगवतीजी सूत्र है। ऐसा अर्थ श्री भगवतीजी सूत्र के लिये उपयुक्त भी है। इस श्री भगवतीजी सूत्र में 'केणश्चेणं एव वुच्चइ' ? ऐसा भी प्रश्न आता है, जिस प्रश्न के द्वारा गणधर भगवान श्री गौतम स्वामीजी ने भगवान के पास हेतु पूर्वक स्पष्टीकरण चाहा था। भगवान ने भी ऐसे प्रश्नों के उत्तर में हेतु दिए हैं। जो हेतु गम्य हो, उनमें हेतु अर्थ देने चाहिये। जो हेतु गम्य हो ही नहीं, उनमें हेतु देना निषिद्ध है। अतः भगवान ने अपनी यह आज्ञा अपने आचरण से भी सिद्ध कर दिवाई है। ऐसे प्रश्नों के उत्तर रूप में भगवान ने जहाँ-जहाँ हेतुओं की शक्यता थी, वहाँ-वहाँ हेतु दिये ही हैं। जहाँ हेतुओं की शक्यता ही नहीं थी, वहाँ भगवान ने भी मात्र श्रद्धा को प्रधानता दी है। इसलिये श्री भगवतीजी सूत्र हेतुओं की रचना में युक्त है - ऐसा भी अर्थ करना ही है। इस चोखे विवेचन के द्वारा हो सकता है, परन्तु हमने पहिले जो अर्थ किया है, वही अर्थ करना ही अधिक उचित लगना है।



कही गई है, वरना तो क्षण-क्षण प्रत्येक क्षण में श्री जिन की पूजा हो-ऐसा बनने का प्रयास करना चाहिये। श्री जिन की आज्ञापालन तो श्री जिन पूजन है ही, उत्कृष्ट प्रकार की श्री जिनपूजा है, परन्तु श्री जिन की आज्ञा का पालन करने के भाव में रमणता करना भी श्री जिन पूजा है। कौन सा क्षण ऐसा है जब श्री जिन का ध्यान न हो सकता हो? श्री जिन ध्यान सर्व क्षणों में हो सकता है। इस प्रकार श्री जिन तान में एक तान हो जाना वेधकता है। इस प्रकार जो श्री जिनतान में विधा गया हो, वह कर्मों का वेधक बनता है। ऐसा मनुष्य इस मनुष्य भव में राधावेध कर कर्मों का शमन कर, दुःख के रहित सुख का भोक्ता बन सकता है। हम प्रशस्त क्षयोपशम भाव का पोषण करने हेतु और परिणाम में क्षायिक भाव को प्राप्त करने हेतु श्री जिनेश्वर प्रभु को याद करते हैं। श्री जिन पूजा भी आपको ऐसे लक्ष्यपूर्वक करने हेतु प्रयत्न करना चाहिये।

**औदायिक भाव को गौण बनाकर प्रशस्त
क्षायोपशमिक भाव से चिपके
रहना चाहिये :**

समान में जित्त क्षयोपशम भाव कठिन है, उसमें भी प्रशस्त क्षयोपशम भाव गति कठिन है और क्षायिक भाव तो उसमें भी गति है और क्षायिक भाव को मानने में चपके-फिरते मिलने वाली वस्तु ही मिल सकती है। औदायिक भाव के रूप में क्षायोपशमिक भाव को मानने से ही औदायिक भाव को तो प्राप्त किया है। औदायिक भाव को प्राप्त करने के लिये श्री प्रशस्त क्षायोपशमिक भाव प्राप्त करना है और प्रशस्त क्षायोपशमिक भाव का धर्म बनाना है। औदायिक भाव को प्राप्त करने के लिये श्री प्रशस्त क्षायोपशमिक भाव को प्राप्त करना है और प्रशस्त क्षायोपशमिक भाव को प्राप्त करने के लिये श्री प्रशस्त क्षायोपशमिक भाव को प्राप्त करना है।



घ : सल्लक्षण :

जयकुंजर की भांति यह सूत्र भी
अच्छे लक्षणों वाला है:

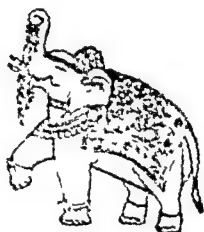
अथ धारण चटने पर दीर्घाक्षर मर्त्यि लटके विजिपण के रूप में
अथ धारण चटने पर दीर्घाक्षर मर्त्यि लटके विजिपण के रूप में

‘मर्त्यि लटके विजिपण के रूप में’

लक्षण युक्त जीव जब गर्भ में आता है तभी से उस जीव के माता-पितादि अनेक प्रकार की ऋद्धि-सिद्धि की अभिवृद्धि को प्राप्त करते हैं। भगवान् श्री वर्धमान स्वामीजी के सम्बन्ध में भी ऐसा ही हुआ था न? स्त्री भी अच्छे चरणों वाली तथा बुरे चरणों वाली मानी जाती है। स्त्री घर के द्वार पर आए तब से मुख सामग्री की वृद्धि हो तो वह उत्तम लक्षणों वाली मानी जाती है और मुख सामग्री घटे तो उसका आगमन अशुभ माना जाता है। पशुओं में भी ऐसा कई बार होता है। लक्षणयुक्त घोड़े आदि पशु जब से द्वार पर बाधे जाते हैं, तब से उनके मालिक का कीर्ति बड़े सुख सामग्री बड़े-ऐसा भी होता है। जयकुजर हाथी के लिये भी ऐसा ही समझ और श्री भगवतीजी सूत्र के सम्बन्ध में भी ऐसा ही समझे। जयकुजर हाथी आगमन में बाधा जाता है, हस्तिशाला में भी अलग और अच्छी जगह पर बांधा जाता है, जब कि श्री भगवतीजी सूत्र को हृदयांगन में स्थापित करना होता है। मांगलिक घोड़ा और जयकुजर आदि जिन मंगल का कारण बनते हैं, वह मंगल श्री भगवतीजी सूत्र को हृदयांगन में स्थापित करने में उत्तम मंगल के सामने किसी मूल्य का नहीं होगा। वे मंगल तो लुब्ध, नाजवान् लक्ष्मी आदि के कारण भूत होते हैं और उनमें भी अन्तर्गत निमित्त तो मालिक का पुण्योदय होता है, जबकि श्री भगवतीजी सूत्र जिसके हृदयांगन में स्थापित हो, वह मंगल लक्ष्मी का स्वामी बनना है और जहाँ वह मंगल स्थापित है वहाँ तक भी विविध ऋद्धि-सिद्धियाँ उसका पालन करती हैं। यदि उसकी नीति है कि उस व्यक्ति को श्री भगवतीजी सूत्र को हृदय में जग भी अलग नहीं करना चाहिये।

इसलिए श्री भगवतीजी सूत्र को पकड़ रखा तो विवेकशील श्री भगवतीजी सूत्र को पकड़ने से रोक दिया करने हो सकता है?

यदि श्री भगवतीजी सूत्र के पालन में अन्तर्गत है, जिस विवेकशील



१० : सुवर्ण मण्डित उद्देशक :

इस प्रकार सात विशेषणों को बताने के पश्चात् यादों विभाग के रूप में वीरकाकार महर्षि कहमाते हैं कि—

सुवर्ण मण्डितोद्देशकस्य

यदा तु जयकुंजर जैमे सुवर्ण से मण्डित उद्देशको जाता होता है यादों में सुवर्ण से मण्डित है उद्देशक जिसके ऐसा होता है, उसी उद्देशक को भगवतीजी का भी सुवर्ण से मण्डित उद्देशको जाता है यदा तु सो से मण्डित है उद्देशक जिसके ऐसा है।

यदा तु जयकुंजर जैमे सुवर्ण से मण्डित उद्देशको जाता होता है यादों में सुवर्ण से मण्डित है उद्देशक जिसके ऐसा होता है, उसी उद्देशक को भगवतीजी का भी सुवर्ण से मण्डित उद्देशको जाता है यदा तु सो से मण्डित है उद्देशक जिसके ऐसा है।

भौति अपनी आँख को घुमाते रहने वाले दिन प्रतिदिन बढ़ते जाते हैं। अर्थात् रूप रंग में सुशोभित वस्तु पर दृष्टि तृप्त होना अच्छा है यह बात यहाँ नहीं, परन्तु रूप रंग में सुशोभित वस्तु के स्वरूप का यह प्रासंगिक वर्णन है। दुनिया में अच्छे वर्ण से सुशोभित वस्तुएँ हैं अतः वे सब देखने योग्य ही हैं अथवा इन सबको देखने में आपत्ति नहीं ऐसा न मानले। हमारा विषय तो इतना ही है कि जयकुंजर हाथी के जो मिर आदि अवयव होते हैं वे अच्छे वर्ण से शोभनीय होते हैं। रंग में थोड़ा करने वालों का उन्हें देखने का देखते रहने का मन होना है, जबकि विषय विराग वाले को, विवेकशील को अच्छे वर्ण से शोभित अवयवों वाली वस्तु देखकर भी ऐसा होता है कि यह भी धर्म का प्रभाव है। पुण्य बिना ऐसा सुन्दर स्वरूप नहीं मिलता और पुण्य धर्म से उपाजित किया जाता है। वह ऐसा भी मटमूस करता है कि ऐसा सुन्दर स्वरूप भी नष्ट है। ऐसे स्वस्त्वान् की मृत्यु निश्चित है। यह मोन्दर्य जीवन भर टिक भी नहीं सकता। सुन्दर भी व्यक्ति रोग के योग में देखना भी पसन्द न आये ऐसा भी होना है न? कदाचित् पुण्य ऐसा हो कि सारी जिन्दगी मोन्दर्य बना रहे, तब भी उममें मुष्य होने जैसी कोई वस्तु नहीं। किसी दिन मरना निश्चित है और उम में ऐसे सुन्दर शरीर को भी एक दिन या तो अग्नि दाढ़ लगेगा, या जमान में लाना जायगा या जगत् के पशु पक्षी उमें गोत्रेमें। ऐसा करने लगे या करना या पयाया सुन्दर शरीर देते रहने का मरने का या और लगी आत बना स्थिर होने का प्रयत्न करता है।

श्री भगवतीजी सूत्र में अध्याय में विचारणा:

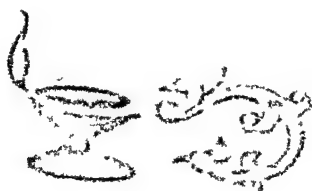
भाँति अपनी आँख को घुमाते रहने वाले दिन प्रतिदिन बढ़ते जाते हैं। अर्थात् रूप रंग में सुशोभित वस्तु पर दृष्टि तृप्त होना अच्छा है यह बात यहाँ नहीं, परन्तु रूप रंग से सुशोभित वस्तु के स्वरूप का यह प्रासंगिक वर्णन है। दुनिया में अच्छे वर्ण से सुशोभित वस्तुएँ हैं अतः वे सब देखने योग्य ही हैं अथवा इन सबको देखने में आपत्ति नहीं ऐसा न मानने। हमारा विषय तो इतना ही है कि जयकुंजर हाथी के जो मिर आदि अवयव होते हैं वे अच्छे वर्ण से शोभनीय होते हैं। राग में क्रीडा करने वालों का उन्हें देखने का देखते रहने का मन होना है जबकि विषय विराग वाले को, विवेकशाल को अच्छे वर्ण से शोभित अवयवों वाली वस्तु देखकर भी ऐसा होता है कि यह भी धर्म का प्रभाव है। पुण्य बिना ऐसा सुन्दर स्वरूप नहीं मिलता और पुण्य वर्ण से उपाजित किया जाता है। वह ऐसा भी महसूस करना है कि ऐसा सुन्दर स्वरूप भी नश्वर है। ऐसे स्वहृदयान् की मृत्यु निश्चित है। यह मोन्दर जीवन भर टिक भी नहीं सकता। सुन्दर भी व्यक्ति राग के राग में देखना भी पसन्द न आये ऐसा भी होता है न? कदाचित् पुण्य ऐसा हो कि गारी जिदगी मोन्दर्य बना रहे, तब भी उसमें पुण्य होने जैसी कोई वस्तु नहीं। किसी दिन मरना निश्चित है और उस दिन पश्चात्तवश से शोभित अवयवों वाली यह देह भी गही रहने वाली है। ऐसे सुन्दर लोगों को भी एक दिन या तो अग्नि दाह गमना, या जलमय में गमना जलना या जलन के पशु पक्षी ऐसे गोजे में। ऐसा समझते हैं कि या अतः या परमात्मा सुन्दर शरीर देनी रहने का भी प्रयत्न करेगी और अन्तिम रूप में प्रयत्न करेगी।

श्री भगवतीजी सूत्र के अध्याय में विचारणा.

इस अध्याय में भगवतीजी सूत्र के अध्याय में विचारणा है।

सूत्र ज्ञान से मुनि को लाभ कैसा ?

ससार मे रहे हुए जीव को श्री भगवती जी सूत्र का ज्ञान होता है वह तो सदगुरुओं के श्री मुख से सूत्र का अर्थ और भाव सुनने से होता है। श्री भगवती जी सूत्र का ज्ञान सूत्र से तो मुनि मे ही होता है। मुनिओं मे भी जो जघन्य से ही गीतार्थ होते हैं जिन्होंने योगोद्धहन किया होता है, विहित निश्चित तपश्चर्या किये हुये होते है, वे ही अधिकारी होते है। इनके सिवाय मुनि भी अधिकारी नहीं, ऐसी शास्त्र की आज्ञा है। सम्यग्दृष्टि आदक भी जब पाप भोर होता है, तब तो सम्यग्दृष्टि साधु तो पाप से और अधिक भोर होता है। पाप की भीति प्रबल हुई कि साधु बने न ? पाप करना सहन नहीं हुआ और पाप के योगों को छोड़ने की पूर्ण प्रकट हुई, उमगिये साधु बने न ? ऐसे साधु आज्ञा के बिना तो इस सूत्र को पढ़े ही कहाँ मे ? इस प्रकार के अधिकारी जिन मायुषों में उन श्री भगवती जी सूत्र का ज्ञान सूत्र से भी प्राप्ति किया हो, वे तो ससार मे कर्म सहित अवस्था मे रहने पर भी मोक्ष मुक्त की भाँति का ही अनुभव करते है न ? श्री भगवतीजी सूत्र का सूत्र से, परा मे और भाव मे ज्ञान हुआ तो और फिर उसका चिन्तन हो, तो तब मुनि की माया के साथ तब हुए कर्म धर्म-धर्म कर पाप छोड़े लगते है। ऐसे मुनि मे क्षण अग्नि का यन्त्राहतं अधिक समझ ले गिये वर नहीं रहता।



सूत्र ज्ञान से मुनि को लाभ कैसा ?

ससार में रहे हुए जीव को श्री भगवती जी सूत्र का जो ज्ञान होता है वह तो सदगुरुओं के श्री मुख से सूत्र का अर्थ और भाव सुनने से होता है। श्री भगवती जी सूत्र का ज्ञान सूत्र में तो मुनि में ही होता है। मुनिओं में भी जो जघन्य से ही गीतार्थ होते हैं जिन्होंने योगोद्धहन किया होता है, विहित निश्चित, तपश्चर्या किये हुये होते हैं, वे ही अधिकारी होते हैं। इनके सिवाय मुनि भी अधिकारी नहीं, ऐसी शास्त्र की आज्ञा है। सम्यग्दृष्टि आवा भी जब पाप भीरु होता है, तब तो सम्यग्दृष्टि साधु तो पाप से भी अधिक भीरु होता है। पाप की भीति प्रबल हुई कि साधु बने न ? पाप करना सहन नहीं हुआ और पाप के योगों को छोड़ने की प्रार्थना प्रकट हुई, उसलिये साधु बने न ? ऐसे साधु आज्ञा के बिना तो इस सूत्र को पढ़े ही कहाँ से ? इस प्रकार के अधिकारी जिन माणुषों में इन श्री भगवती जी सूत्र का ज्ञान सूत्र से भी प्राप्त किया हो, वे तो ससार में तम गति अवस्था में रहने पर भी मोक्ष सुर की भाँति का ही अनुभव करते हैं न ? श्री भगवतीजी सूत्र का सूत्र में, धर्म और भाव में ज्ञान दया हो और फिर उभरा चिन्तन हो, तो तब ही आत्मा के साथ तब हुए तम धर्म-धर्म कर अलग हो पाएंगे न। ऐसे मुनि में धर्म-धर्म का अन्तर्महत्त्व अधिक महत्त्व निवेदित नहीं रहता।



जयकु जर के सम्बन्ध में इस विशेषण

से परेशानी :

यदि समझपूर्वक विचार किया जाए, तो इस विशेषण में टीकाकार महर्षि ने चरित्र के जो तीन गुण कहे हैं, वे तीनों ही गुण जयकु जर के लिये उपयुक्त हैं तथा श्री भगवतीजी सूत्र के लिये भी उपयुक्त हैं, परन्तु समझ में कमी हो या विचार शक्ति में न्यूनता हो, तो यह विशेषण देखते ही परेशान होना सम्भव है। ऐसी परेशानी उपस्थित हो जाए कि जयकु जर का आचरण अनेक प्रकार का कैसे हो सकता है? वह अनेक प्रकार का हो तब भी उसे अद्भुत कैसे कह सकते हैं? जयकु जर का आचरण अनेक प्रकार का होना चाहिये, अद्भुत भी होना चाहिये और श्रेष्ठ भी होना चाहिये। यह कैसे हो सकता है? ऐसी समस्या उपस्थित हो जाए और फिर वानक जब अपनी समझ शक्ति की न्यूनता के कारण तथा विचार शक्ति की न्यूनता के कारण इस समस्या का हल निकालने में असमर्थ रहता है, तब उसे जैसा अनुकूल लगता है वैसा अर्थ करने का प्रयास करता है और इसमें उसमें कई उलझने डालनी पड़ती हैं, फिर जयकु जर का चरित्र अनेक प्रकार का है इस बात का बदल कर कई जयकु जरों के चरित्रों की अपेक्षा ली जाती है और इस प्रकार अनेक प्रकारों का वर्णन किया जाता है। ऐसा करके भी आचरण को विनियमित बनाने में कुछ सतोच करना है। अर्थात् किसी-किसी हाकी का विनियम आचरण रहा होगा—एसे निश्चय पर उसे पहुँचाना पड़ता है। फिर भ्रष्टता बनाने में भी ऐसा ही कुछ करना पड़ता है कि सामान्य हाकी भी वह श्रेष्ठ आचरण रहमाना है।

श्री भगवतीजी सूत्र के सम्बन्ध में भी

इस विशेषण से समस्या :

जयकु जर की स्मृति है जो समझ में रहना चाहिए, व श्री भग

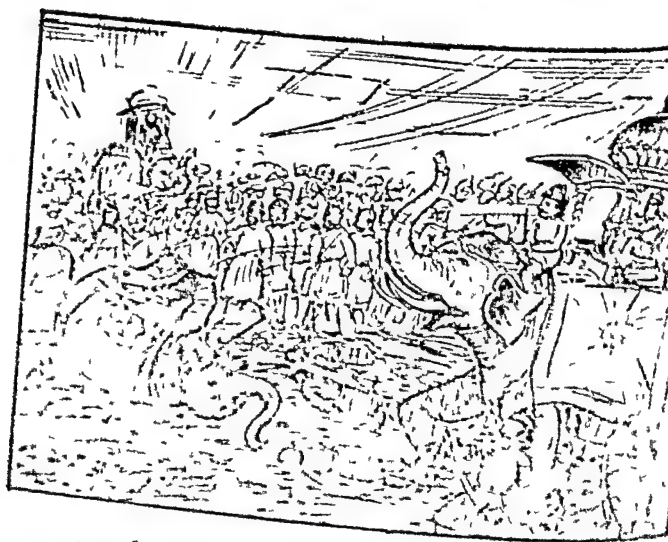
ही कहते हैं। वह व्यक्ति जब दूसरे पर ऐसा उपकार करता है तभी उसका वह उपकार रूप आचरण अद्भुत और प्रवर कहलाता है। ऐसी बात नहीं है। ऐसे उपकार का आचरण तो अद्भुत और प्रवर है ही, परन्तु मात्र स्वयं अपने आन्तर शत्रुओं को जीतने न दे और जब-जब ये आन्तर शत्रु बल प्रयोग करे तब तब उन पर वह जय ही प्राप्त करता है तो मानव का वह आचरण भी अद्भुत और प्रवर है। समार में जीवों का बहुत बड़ा भाग आन्तर शत्रुओं के अधीन ही होता है। अधिकांशतः जीव तो आन्तर शत्रुओं की गुलामी ही करते हैं। इनमें कुछ जीव आन्तर शत्रुओं के अधीन रहे बिना, सदानार के मार्ग पर चलने का प्रयास करते हैं। ऐसे थोड़े जीवों में भी ऐसे जीव तो बहुत ही कम होते हैं जो आन्तर शत्रु जब आक्रमण करते हैं तब स्वयं नहीं हारने बल्कि आन्तर शत्रुओं को हरा देते हैं। आन्तर शत्रुओं ने पराक्रम ही जो समझने है, इन शत्रुओं को जीतने की जो आवश्यकता समझने ही वे इन बातों को शीघ्र समझ सकते हैं कि आन्तर शत्रुओं के लक्ष में न रुककर सदानार के मार्ग पर जीना और आन्तर शत्रु आक्रमण करे तब उनकी पराधीनता में न फँसकर, उन्हें पराजित करना भी असाधारण अद्भुत आचरण है और ऐसा आचरण प्रयत्न ही मान्य है। आन्तर शत्रुओं पर विजय प्राप्ति हेतु निराले रूप में ही, आन्तर शत्रुओं के आक्रमण में हारने वाले बहुत होते हैं। आन्तर शत्रु का जितना अनुभव है—यह तो ईश्वर ही जान सकते हैं। आन्तर शत्रु जीव समाजों की जो आवश्यकता है बात का ध्यान रखना ही नहीं था। जीवों का क्या है ?

प्रायः नै जायगण नै भी अदभुतना

प्रतिपक्ष दल शक्ति का सामना है :

1. 凡在本行開辦之各項業務，均應遵守本行章程及各項規章制度，不得有違。

ओर हाथी को वेग से शत्रु सैन्य में ले जाने के लिये महाराजा देते हैं।



सम्पूर्ण शत्रु सैन्य का नाश हुआ हाथी गामे नष्ट जाया है
श्री भगवतीजी के पास पहुँचने पर श्री कुमारवान श्री भगवतीजी
को नमस्कार देते हैं।

श्री भगवतीजी उस समय हाथी तीन मील दूर में भेजा हुआ
था जो कि समस्त शत्रु सैन्य को नष्ट कर दिया। यह हाथी जब
पहुँचा तो शत्रु सैन्य का नाश कर दिया था, फिर भी शत्रु
सैन्य का नाश नहीं हुआ। शत्रु सैन्य को नाश करने के लिये
श्री भगवतीजी ने हाथी को भेजा था। हाथी ने शत्रु सैन्य
को नष्ट कर दिया। हाथी ने शत्रु सैन्य को नष्ट कर दिया।

रहेगे । उस समय समझ में आएगा कि कुत्ते दोनों ओर से और पीछे से भौकते रहते हो फिर भी हाथी शांति से चलता रहना है-यह उसका आचरण अद्भुत भी है और प्रचुर भी है ।

मान-पान संबधी तथा अन्य भी अनेक
आचरण अद्भुत और प्रवर होते हैं:

जयकुजर के चरित्र को नानाविध जो विशेषण दिया है। उसके सबध में ही जयकुजर के विविध आचरणों की हम चर्चा कर रहे हैं। उपसर्गों के समय भी अपने अव्यय स्वरूप को बनाए रखते रहे हैं। उपसर्गों के समय भी अपने अव्यय स्वरूप को बनाए रखते रहे हैं। उपसर्गों के समय भी अपने अव्यय स्वरूप को बनाए रखते रहे हैं।

साधु गुणनाथ नानकचरणावपात.

भूमौ निपत्य तदनोदरदर्शनं च ।

४॥ विष्णुस्य कृते गजपुंगवस्तु

गौर दिव्योदयनि चाद्गुणनोरन भुङ्क्ते ॥१॥"

△

▽

6

12
1

जड़ का भी आचरण हो सकता है—यह बात तो आपकी समझ में आई न ?

प्रश्न—जड़ का आचरण होता ही नहीं ऐसा तो नहीं कर सकते । उपचार से जड़ का आचरण भी हो सकता है ।
 अर्थात्—यह भी...

अर्थात्—यह श्री भगवती सूत्र जड होने पर भी इसका ग्रान
रण हो सकता है यह बात मानने में आपत्ति नहीं रहती ।
श्री भगवती—

श्री भगवतीजी सूत्र का ज्ञानदान रूपी आचरण :

अब तो विचार यह करना रहा कि श्री भगवती जी सूत्र का आवरण कौनसा ? ज्ञानदान ही इस श्री भगवतीजी सूत्र का आवरण है ।

प्रश्न—सही रीति से तो ज्ञानदान आप देते हैं, क्योंकि हमें तो आपके बोलने से ज्ञान होता है, अतः ज्ञानदान आपका आचरण है, परन्तु श्री भगवती जी सूत्र का नहीं ।

आपने तनिक अधिक विचार किया होता, तो आप ऐसा नहीं करते। आपको ज्ञान भी देना है, परन्तु मुझे तो ज्ञानदान में भी भय लगा सूझ करने है न ? मैंने कहा, हमसे मुक्त ज्ञान दृष्टा, अतः मैं ज्ञानदान कर सकता हूँ, परन्तु मुझे यदि इन सूझ ने ज्ञानदान दिया होता तो मैं आपका यह ज्ञानदान नहीं कर सकता था।

मूल - पुत्रों में ज्ञानदान देने की शक्ति होती ही नहीं है, वह पिता ही है, उस जो वह सकता है, पदार्थ अर्थ की दृष्टि से भी यदि उपवास मुख्य पदार्थ और सोये ही जाय तो इससे ज्ञानदान मुख्य है यदि ज्ञानदान करने की शक्ति है, तो वह सब का सब ज्ञान देने का ही बनना चाहिये।

जड़ का भी आचरण हो सकता है—यह बात तो आपकी समझ में आई न ?

प्रश्न—जड़ का आचरण होता ही नहीं ऐसा तो नहीं कह सकते । उपचार से जड़ का आचरण भी हो सकता है ।

अर्थात्—यह श्री भगवती सूत्र जड़ होने पर भी इसका आचरण हो सकता है यह बात मानने में आपत्ति नहीं रहती ।

श्री भगवतीजी सूत्र का ज्ञानदान रूपी आचरण :

अब तो विचार यह करना रहा कि श्री भगवती जी सूत्र का आचरण कौनसा ? ज्ञानदान ही इस श्री भगवतीजी सूत्र का आचरण है ।

प्रश्न—सही रीति से तो ज्ञानदान आप देते हैं, क्योंकि हमें तो आपके बोलने में ज्ञान होता है, अतः ज्ञानदान आपका आचरण है, परन्तु श्री भगवती जी सूत्र का नहीं ।

आपने तनिक अधिक विचार किया होता, तो आप ऐसा नहीं करते । आपको ज्ञान में देना है, परन्तु मुझे तो ज्ञानदान में श्री भगवती सूत्र कहते हैं न ? मैंने पढ़ा, इसमें मुझे ज्ञान हुआ, अतः मैं ज्ञानदान परमार्थ कहूँ, परन्तु मुझे यदि इस सूत्र में ज्ञानदान मिले तो मैं भी मैं आपका यह ज्ञानदान नहीं कर सकता था ।

प्रश्न - पुनः मैं ज्ञानदान देने की शक्ति होती ही नहीं । इसमें जो शक्ति दीया है, उस जो पढ़ सकता है वह सब शक्ति को प्राप्त करता है उसे भी यदि उपयोग पुनः पढ़े और सोचे तो शक्ति बढ़ती है इससे ईश्वर नहीं । पुनः मैं यदि ज्ञानदान करने की शक्ति है तो ज्ञानदान करके जो शक्ति देता था वह शक्ति वापस आती ।



यही पुस्तक का आचरण है। पुस्तक हाथ में लेकर उसमें जो लिखा हुआ हो, उसे व्यक्ति यदि पढ़ सके, उसके अर्थ को सोच नये तो उस पुस्तक ने उसे ज्ञानदान किया—ऐसा कहा जा सकता है। अचित्त पानी भी पीने वाले के गले को ठंडक पहुँचाता है। इसी प्रकार श्री भगवत्गीता सूत्र का आचरण भी है और वह है ज्ञानदान। यह बात अब भी यदि आप में से किसी की समझ में न आई हो तो कहें। बात लम्बी होने की चिन्ता नहीं, परन्तु जब आपको सुनाता हूँ और आप सनते हैं, तब बात तो आपकी समझ में आनी चाहिये न ?

प्रश्न—यह बात श्रद्धा तो बराबर समझ में आ गई है

कैमा ज्ञान देने से ज्ञानदान अधम
कोटि का गिना जाता है :

यद्यपि हमें देना है कि श्री भगवतीजी मूत्र का जो ज्ञान राख
रखी आचरणा है, वह किस प्रकार नानाविध हो सकती है और जिस
कारण से वह अद्भुत और प्रबल है। दान कैसा है, इसका निर्माण
दान में जो दिया जाता है उसके आधार पर भी किया जाता है।
दान में दान का भाव भी देना जाता है, परन्तु श्री
भगवतीजी मूत्र की रचना मान को लेकर विचार
में दान दान के भाव का प्रश्न उपस्थित नहीं होता। दान
भाव की बात दूर रखो और दान में ही जाने वाली वस्तु के आधार
पर निर्णय लें कि दान कैसा है, तो श्री भगवतीजी मूत्र का जो
भाव राखी है, अद्भुत और प्रबल मिला हुआ मिलाने योग्य है।
यदि दान का भाव दान की दायरगणना है, परन्तु नाना प्रकार के
दान प्रदान करने के लिये है। कई वस्तु या जाने तक की दान
दान का भाव भी हो सकता है। जो दान दिया जाय है वह
वस्तु का भाव भी हो सकता है। दान का भाव भी उपमा के योग्य हो सकता है।
यदि दान का भाव दान की दायरगणना है, तो दान का भाव भी



मन में विश्वास है कि रानी झूठ कहेगी नहीं और स्वयं ने चारों ओर देख लिया फिर भी दूत कही दिखाई नहीं दिया, तब रानी ने पूछा—

रानी ने तुरन्त ही राजा सोमचन्द्र के मिर पर से एक श्वेत वाल उखाड़ कर राजा के हाथ में रखते हुए कहा कि 'यह केशराज धर्मराजा का दूत है अतः भय नहीं, पर आनन्द देने वाला है।



राजा सोमचन्द्र ने सोचा कि हाथ में रखे हुए श्वेत वाल ने जो शक्ति को देखा है वह है। अतः मैंने उस श्वेत वाल को राजा के हाथ में दे दिया। राजा ने उस श्वेत वाल को देखकर बहुत आनन्द किया। उसने राजा की कृपा

अपने कर्मों से ही बड़ा होगा। आप पधारे तो फिर मुझे यहाँ प्रयोजन ही क्या है ?”

पिता के संस्कारः

श्री प्रसन्नचन्द्र ऐसे माता पिता के पुत्र थे। राजा और रानी दोनों ही कितने उत्तम सम्कार वाले थे ? सिर पर अभी तो मात्र एक ही सफेद वाल आया है फिर भी उसे देख कर राजा का हृदय कांप उठता है। “अपने पूर्वजों की अपेक्षा स्वयं अधिक विषयावत जिनलों” ऐसा विचार आया और उसने मन में भारी ‘सेद उत्पन्न कर दिया गया यह जैसा तैसा संस्कार है। राजा का यह विचार भी प्रमाण-वैराग्य जैसा नहीं। मुर्दे को जला आये और थे जैसे के तैसे, फिर तो भूल ही जाते हैं कि हमें भी मरना है मरने वालों में हम नहीं हैं। श्री प्रसन्नचन्द्र उन में से नहीं थे। यह तो वे हैं जिनके हृदय में वैराग्य उत्पन्न हुआ कि तुरन्त त्याग करने की ही बात। थोड़ा सा विचार आया अच्छा छोटा है, यदि मैं छोड़ जाता हूँ तो राज्य और पुत्र का क्या होगा ?” परन्तु इस विचार को उन्होंने कैसा उड़ा दिया तुरन्त ही निगम किया जिस अर्थ ही तेना है उनके लिये राज्य भी क्या और पुत्र भी क्या ? हृदय में सुन्दर मरकाशों की भुगम फैली हुई होती है या ऐसा विचार माना और उनके माथे > बिना किसी बात को परमात्मा विषय त्याग के लिये उत्पन्न होना प्रायः शक्य ही नहीं है।

माता के संस्कार

श्री प्रसन्नचन्द्र का पिता जैसा उसका माता के हृदय में भी था। माता की धर्माधारण कांति की थी। माता का हृदय भी राजा के हृदय के समान ही था। राजा के हृदय में जो विचार आया था माता के हृदय में भी आया था। राजा के हृदय में जो विचार आया था माता के हृदय में भी आया था। राजा के हृदय में जो विचार आया था माता के हृदय में भी आया था।



विचार तो ऐसा आता है कि ऐसे संस्कारवान् -माता-पिता के पुत्र सयोगवश अल्पवयस्क पुत्र को सिंहासनारूढ कर दीक्षा ले तो इसमें आश्चर्य जैसी कोई बात ही नहीं है ।

श्री प्रसन्नचन्द्र ने दीक्षा क्यों ली थी अर्थात् किस कारण से ली थी यह तो आप जानते हैं न ?

उनकी माता सगर्भावस्था में ही अपने पति राजा सोमवन्द्य के साथ वन में गई थी । वहाँ उन्होंने पुत्र को जन्म दिया था । वह पुत्र किस प्रकार बड़ा हुआ, किस प्रकार जंगल से नगर की ओर उभरा आकर्षित किया गया और पुनः वह जंगल में पिता के पास क्यों गया आदि बातों को यहाँ प्रसंग न होने से छोड़ देते हैं, परन्तु श्री प्रसन्नचन्द्र राजा के वत्कल चोरी नामक छोटे भाई को अपने तापसगुणों के उपकरणों की सफाई करते समय जातिस्मरण जान हुआ और इस पृथु भव में जिप चारित्र्य का पालन किया था वह याद आया उस पल में वे तभी व्यानारूढ हुए कि वही उन्हें केवल ज्ञान भी प्राप्त हो गया ।

केवल जानी वन हुए श्री वत्कलचोरी ने उपदेश देकर उन पिता श्री सोमवन्द्य का तापस में मे जैन मुनि बनाया और साथ अपने बड़े भाई राजा प्रसन्नचन्द्र को वैराग्य धामिनी बनाने का वादा किया ।

इस प्रकार वैराग्य धामिनी बन कर गये गये हुए प्रसन्नचन्द्र ने अपनी गणधारी के समान गौतमपुत्र आदि के साथ रह कर ही वे ही अपने वापस का भी राजगद्दी पर बिठा कर ही वे ही हीरक चरम का भी नाम दीक्षा ग्रहण की ।



सूर्य मंडल के सामने दृष्टि स्थापित कर खड़े रहना तो उससे भी अधिक कठिन है। इनका यह दुष्कर कार्य किसी को भी चकित किए बिना नहीं रह सकता। ऐस माहात्मा से तो स्वर्ग तो क्या पर मोक्ष भी जरा भी दूर नहीं रह सकता। वास्तव में कोई कार्य ऐसा असाध्य तो है ही नहीं जिसे उग्र तप से साधा न जा सके।

दूसरे धुड़सवार पर विपरीत प्रभाव :

उस धुड़सवार ने तो अपने हृदय का भाव अपने वाली द्वारा जितना व्यक्त हो सकता था उतना व्यक्त किया परन्तु अपने साथी की आर से भी ऐसा ही मनोभाव व्यक्त होगा, ऐसी उसने जो आशा रखी थी वह बिल्कुल निष्फल रही। इतना ही नहीं बल्कि उसके भाव से बिल्कुल विपरीत भाव ही उसने व्यक्त किया। उसके साथी धुड़सवार ने कहा मित्र ! तू इस मुनि को पहिचानता ही नहीं ऐसा मुझे लगता है। तू यदि उस मुनि को जानता होता तब तो इसी ऐसी प्रशंसा करता ही नहीं। यह तो राजा प्रमन्नचन्द्र है। इसे ऐसा कष्ट में भी किसी भी प्रकार की धर्म प्राप्ति नहीं होने वाली है। इसका तप भी बूझा है। इसका कारण यह है कि इस राजा ने अपने बालशयस्क पुत्र को राज्यमहती पर स्थापित कर दीक्षा ग्रहण की है। परन्तु दुष्ट पर से कचना फल तोड़ गिराने की भाँति, इस राजा ने मन्त्रीमण्डल इसके पुत्र को राज्यव्युत् करने के लिये तैयार हो गए हैं। इस राजा ने तो राज्य की रक्षा का बौद्ध दुरात्मा मन्त्रीमण्डल को मोक्षर बिस्वी को दुष्ट की रक्षा हेतु नियुक्त करने की भाँति भूल गया है। ये मन्त्री बालराजा को मार डालने और इसका तप भिन्न हो जायगा। इस प्रकार अपने पूर्वजों के नाम का नाश हो जायगा। इस प्रकार राजा यह मुनि महान् पापी माने जायगा। इसी प्रकार अपने मन्त्री मण्डल को विषादों का त्याग दिया है। यह राजा अपने राज्य पर महान् क्षति का कारण होगा। इसी प्रकार राजा को मार दी है।

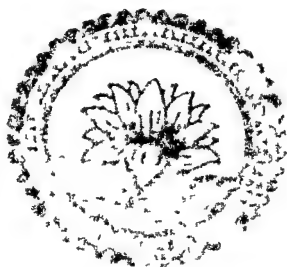
रूप में परिणत होती है। इससे भी आगे सोचे तो ऐसे भी सुपा होते हैं जो स्वरूप में बुरी वस्तु को भी अपने लिए सुन्दर बनाने की शक्ति रखते हैं। इस प्रकार विवेक का प्रयोग करना आए, तो भी भगवतीजी सूत्र को पढ़कर कोई उल्टा सीधा बोलता हो तो उस कारण से श्री भगवतीजी सूत्र को दोष देने का मन नहीं होगा, परन्तु वह व्यक्ति ही अयोग्य है—ऐसा मानकर ऐसे बेचारे पर भी दया का ही चिन्तन होगा।



तो हे ही । इसका स्पष्टीकरण समझने हेतु सबसे पहिले तो आर सोचे कि यहा अर्थात् इस विशेषण मे बताने की मुख्य वस्तु कौन सी है ?

प्रश्न—सूत्र रूपी देह ?

मात्र सूत्र रूपी देह नहीं, परन्तु सूत्र रूपी देह प्रमाणोपेत है। प्रमाण विहीन नहीं—यही इस विशेषण मे बताने की मुख्य बात है। अब यह देखे कि सूत्र रूपी देह का जो प्रमाण बताना है, वह मर्या से बताना है न कि प्रश्नो से । सख्या बतानी है प्रश्नो की, पर बनानी तो मर्या ही है न ! इसलिये प्रमाण शब्द के पहिले सख्या वाक्य महस्न शब्द रखा गया है । अब यदि प्रश्न शब्द को पहिले रगार प्रश्नपट्त्रिशत्सहस्रप्रमाण किया होता तो यह रचना निलाट बनती और उसका जो अर्थ होता वह अर्थ जो अर्थ बनाने का टीकाकार महर्षि का भाव है उसमे साथ मेले खाने वाता नहीं होता। इसलिये टीकाकार महर्षि जिस अर्थ को और जिस भाव को इस दमने विशेषण के द्वारा बताने के उच्छेदक है, उस अर्थ और भाव को लक्ष्य मे रगार यदि विचार किया जाय तो आगम यह बात समझ में आ सकती है कि उस अर्थ और उस भाव को बनाने हेतु तो टीकाकार महर्षि ने इस पद को जिस प्रकार मे रगता की है, वह रगता ही योग्य है ।



अनुयोग किसे कहते हैं :

युज् धातु के साथ अनु उपसर्ग लगने से अनुयोग शब्द बन है अनु अर्थात् अनुकूल अथवा अनुरूप और योग अर्थात् जोड़ । अनुकूल या अनुरूप जोड़ को अनुयोग कहते हैं । द्रव्य विषयक अनुयोग को द्रव्यानुयोग कहते हैं, गणित विषयक योग को गणितानुयोग कहते हैं, धर्मकथा विषयक अनुयोग को धर्मकथानुयोग कहते हैं यो चरण-करण विषयक अनुयोग को चरण-करणानुयोग कहते हैं । धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल, जीव आदि पुद्गल ये छ द्रव्य हैं । उन छ में ममावेग जिसका न हो, ऐसा एक भी द्रव्य इस जगत में नहीं है । ये छ द्रव्य मत् है या अमत् है इसकी पर्यालोचना जिस अनुयोग में होती है, उसे द्रव्यानुयोग कहते हैं । सूर्य चन्द्र ग्रह नक्षत्र आदि सबकी जो वर्णन सूर्य प्रज्ञप्ति आदि में है, उसे गणितानुयोग कहते हैं, दुर्गति में गिरते हुए प्राणी को आधारण करे उसे धम कहते हैं और तत्त्वप्रधी कथा को धर्मकथानुयोग कहते हैं जबकि जिनमें चरण और करण सबकी वर्णन हो, आचार सबकी वर्णन हो, उसे चरण-करणानुयोग कहते हैं । साधुता का नियमानुष्ठान चरण कहलाता है और साधु को प्रयोजन प्राप्त होता है । पर जा विष्णु विष्णु आदि का आचरण करना पड़ता है, उसे चरण कहते हैं । हममें ममत्त्व जगत् की ममत्त्व प्रवृत्तियों और पदार्थों का समाज ही जाना है व्याज्य क्या २, साह्य क्या २, आनंजय क्या २, यत् भी इन चार अनुयोगों में आजाता है । सभी शास्त्रों का अनुयोग म प्रण है अर्थात् किसी भी शास्त्र में पाया अनुपाद का अनुयोग ही शास्त्र है या इन चारों अनुयोगों में समाज आजाता है ।

आचार्य के शास्त्र में अनुयोगों

की पहचान होना चाहती है

अनुयोगों में शास्त्रों की पहचान होना चाहती है

प्रसंग है वह नूपुर पंडिता के रूप में प्रख्यात बनी हुई स्त्री के चरित्र के साथ संबद्ध है कि यदि उस स्त्री का प्रसंग जैसा हुआ वैसा न हुआ होता, तो हाथी का एक पाँव पर खड़े रहने का अभ्यास लोगो को जो जानने और देखने को मिला वह नहीं मिलता क्योंकि ऐसा प्रसंग ही नहीं हो पाता। अतः नूपुर पंडिता के चरित्र को संक्षेप में देखते २ ही हाथी के एक पाँव पर खड़े रहने के अभ्यास वाले प्रसंग पर हम पहुँच सकेंगे।

चित की चंचलता से शीलभ्रष्टता :

नूपुर-पंडिता का मूल नाम था दुर्गिला। देवदिन्न नामक सोनी की वह पत्नी थी। दुर्गिला मुनारिन होने पर भी उसकी चतुर्गई में जैसे अन्य चतुर स्त्रियाँ भी पीछे रहती थी, वैसे ही वह रूप लावण्य में भी कई स्त्रियों से बहुत आगे थी। वह रूप लावण्य में जैसे पूर्ण थी, वैसे उसके नयनकटाक्ष भी कामदेव के बाणों का काम भी करने वाले थे।

भारी विचक्षण और मुन्दरी होने पर भी दुर्गिला यदि चित्त चाली न होती और स्त्रियों के महान् आभूषण शीलगुण नहीं होती तो उसकी विचक्षणता और उसकी मुन्दरता भी उसके चित्त की उपयोगी गिनी होती, परन्तु वह तो चंचल चित्त वाली थी और उसने उसे प्रसंग प्राप्त हुआ कि उसे मतीत्य के वातावरण में भी मग्न होने देना नहीं। कुशीलता पैदा होने में चित्त की चाल ही प्रथम निमित्त है। जिन स्त्रियों को अपना शीलगुण निराला होना ही पड़ा जिन की चंचलता का त्याग कर योगवास में भी मग्न हो मर्त्यशरीरधारक चित्तोच्छादित है। जिन की चंचलता अतिवृत्ति हो गई है वह प्रसंग ही होती है, परन्तु मर्दाना चित्तों में चित्त की चाल ही प्रथम निमित्त है। यदि आसक्तता आसक्तता तो उस समय ही।

हुआ और आपने ऐसा किया जिससे मुझे लज्जित होना पड़ता है। पिता होकर आप मेरी अपकीर्ति न फलाएँ। यह महा सती हैं—ऐसा मुझे पूर्ण विश्वास है।

दुर्गिला का सम्मान :

कुलटा को ऐसा पति मिल जाए फिर चाहिये ही क्या ? बूँत मीन रह गया, तब भी दुर्गिला ने उस बात का पीछा न छोड़ा। उसने कहा 'दैविक क्रिया में मैं अपने सतीत्व को मिट्ट करूँगी' और उसने उसमें भी ऐसा किया कि वह मती के रूप में सिद्ध हुई। दुर्गिला ने उसका इस प्रसंग से बड़ा सम्मान हुआ। वह प्रसंग हुआ, तब से दुर्गिला 'नूपुर पण्डिता' के नाम से पहिचानी जाने लगी।

एयाति का प्रयत्न न करके,

अच्छा काम करने का और

अच्छे बनने का प्रयत्न करे :

ऐसा। सब कुछ हो जाने से—जिसकी कल्पना भी न की जा सके—देवदत्त के पिता देवदत्त को भारी आघात पहुँचा। पुत्रप्राप्त उम जवरदम्न मुँह की खिलारी। आँखों से देखा हुआ परीक्षा में टूटा और निशाना भागी गई, फिर भी देवदत्त भूँटा निरुद्ध और ऊपर में निर्लेज्ज भी मिट्ट हुआ। ऐसा कैसे हुआ होगा ? दुर्गिला कुँटा थी, भूँटी थी, कपट पूर्ण थी, फिर भी मन्त्री, मन्त्री और मन्त्री के रूप में प्रसंगान हई तथा दुर्गिला और पति में सम्मान बना। उम जवरदम्न मुँह की खिलारी, आँखों से देखा हुआ परीक्षा में टूटा और निशाना भागी गई, फिर भी देवदत्त भूँटा निरुद्ध और ऊपर में निर्लेज्ज भी मिट्ट हुआ। ऐसा कैसे हुआ होगा ? दुर्गिला कुँटा थी, भूँटी थी, कपट पूर्ण थी, फिर भी मन्त्री, मन्त्री और मन्त्री के रूप में प्रसंगान हई तथा दुर्गिला और पति में सम्मान बना। उम जवरदम्न मुँह की खिलारी, आँखों से देखा हुआ परीक्षा में टूटा और निशाना भागी गई, फिर भी देवदत्त भूँटा निरुद्ध और ऊपर में निर्लेज्ज भी मिट्ट हुआ। ऐसा कैसे हुआ होगा ? दुर्गिला कुँटा थी, भूँटी थी, कपट पूर्ण थी, फिर भी मन्त्री, मन्त्री और मन्त्री के रूप में प्रसंगान हई तथा दुर्गिला और पति में सम्मान बना।

अनायास ही मिल गई। राजा ने देखा कि अन्त.पुर के रक्षक के रूप में यह बड़ा ही उपयोगी व्यक्ति है। इसीलिए उस बूढ़े को राजा ने मुँह मांगा वेतन निश्चित कर अन्त पुर का रक्षक नियुक्त किया।

राजा की अनेक रानियों में से एक रानी कुलटा थी। यह रक्षक उस रानी का भक्षण बना। वह रानी बार-बार देखती रहती थी कि नया रक्षक सोया या नहीं ?

उस प्रकार एक ही रानी उसे बार-बार देखती रहने से बूढ़े को शक हुआ। 'यह रानी मुझे बार-बार क्यों देख रही है ?'—शक का निवारण करने के लिये बूढ़े ने सोने का ढोंग किया।

उस रानी को लगा कि बूढ़ा सो गया है अतः वह तुरन्त बाहर आई और बूढ़ा गहरी नींद में सो गया है या नहीं—इसकी जाँच



होता तो दास ही है न ? परन्तु रानी ने दास को देव बनाया था और उसी का फल उसे भोगना पड़ रहा था । कामाधीनता वश तो दास को देव बनाने से दास के हाथो पिटाई भी सहन करनी पड़ती है । कामाधीनो को कैसी कैसी गुलामी सहन करनी पड़ती है ? यह बात अधिक विस्तार से कहने के बजाय आप इतनी सूचना से ही समझ जाएँ तो अधिक अच्छा है । आप यदि आचरणों की शांत भाव से विवेक पूर्वक आलोचना करने लग जाएँ तो यह सत्तार तो ऐसा है कि आपको क्षण भर भी इसमें रहना प्रिय न लगे । आप जो बहुत कुछ सहन करते हैं । वह अपनी सहन शीलता के कारण नहीं, परन्तु विषय कपाय के आवेश में है इसलिए करते हैं । आप में यदि सच्ची सहनशीलता का गुण होता, तो धर्मस्थानों में यह गुण अवश्य दिखाई देता और सामारिक स्थानों की अपेक्षा वहाँ विशेष रूप से दिखाई देता परन्तु आज मेठ का बहुत कुछ सहन करने वाले भी गुण का सामान्य आदेश तक सहन नहीं कर सकते । रोटी-रोजी कमाने के लिए भारी तप सहन करने वाले, धर्म क्रिया के सामान्य कष्ट में भी थक जाते हैं । प्रतिकर्मण में जहाँ सड़ा रहना पड़ता है, सड़े होकर पड़ा सड़ पावो बैठना हो वहाँ उस तरह बैठ कर और जहाँ समान करने पड़ें वहाँ पावो ही अन्न मिले उस प्रकार समानमण दो दो प्रतिकर्मण की क्रिया करने वाले कितने ? भगवान के समक्ष या पुत्र के समक्ष अस्मर्योचित मर्यादा का पालन करने वाले कितने ? आर्तित भाईपन का साथ लोड़ कर आदर करने वाले कितने ? अशुभ जगत् रानी भी मर्यादा के साथी साथी बाधने की योग्यता का प्रत्यक्ष प्रमाण सहन करती है । कारण ? कारण यह कि वह अपने स्वयं के स्वार्थ का पालन करती है ।

और आप जानें कि काम में पुनः विजय पाई :

नमो भगवते वासुदेवाय ।

तुरन्त लोगो ने महावत से पूछा कि—‘हे महावत श्रेष्ठ । एन पाँव पर खड़े हुए हाथी के पास शेष तीनों ही पाँव शिखर पर रख कर हाथी को सकुशल पुन नीचे उतारने का तुझ में सामर्थ्य है क्या

महावत ने उस अवसर का लाभ लेकर कहा— राजा यदि हाँ दोनो को अभयदान देते हो तो इस हाथी को सकुशल मैं नीचे उतार दूँ ।

लोगो ने राजा को पुनः निवेदन किया । लोगो के कहने पर राजा ने महावत और रानी को अभयदान दिया ।

राजा के अभयदान देने के साथ ही महावत ने उस हाथी को कुशलतापूर्वक पर्वत के शिखर पर से ठीक नीचे पृथ्वी पर उतारा फिर हाथी को गड़ा रखकर महावत और रानी हाथी पर से नीचे उतर गए ।

राजा ने उन्हें कहा—‘मैंने तुम्हें अभयदान दिया है, अतः तुम्हें बिना कोई सजा दिये अपने राज्य में से बाहर चले जाने का आज्ञा देना है ।’

राजा के उस प्रकार आज्ञा करने से वह महावत और रानी जहाँ से परराज्य में जाने हेतु निकल पड़े ।

कथा—प्रसंग का उपनय :

उस कथा के भाग के भाग का यहाँ हमें प्रयोजन नहीं । उक्त कथा के देवता महावत हाथी चार पैरों वाला होता है, चार पैरों के द्वारा ही चलने आदि की प्रवृत्ति करने वाला होता है, फिर भी यह शरीर ही जगत् का एक भाग पर भी अपनी देह और मन धारित होता है जो कि जगत् के ही एक भाग के रूप में ही प्रकट होता है । अतः इस कथा का अर्थ यह है कि जगत् का प्रत्येक भाग ही अपने भाग के अनुसार ही प्रवृत्ति करने वाला होता है ।

देर लगे, इतने रजोहरण हाथ में आप और गए-ऐसा मुना है न ? ऐसा कैसे हुआ होगा ? वहाँ हृदय में विपरीत भाव विद्यमान ही रहा होगा । मात्र विपरीत भाव बैठा हुआ-ऐसा ही नहीं, परन्तु उसका आग्रह भी घुसा हुआ रहा होगा । जहाँ विपरीत भाव रूपी निप हृदय में पड़ा हुआ हो, वहाँ चरण-करणानुयोग चाहे जितना समय होने पर भी क्या करे ? आखिर कार विपरीत भाव का यदि आग्रह न हो और यदि कोई समझाने वाला हो और विपरीत भाव का त्याग करने में देर न लगे तभी चरण करणानुयोग लाभ पहुँचा सकता है । पत चरण-करणानुयोग की यह जो महत्ता बताई जाती है, वह जीव के अच्छे लक्ष्य की अपेक्षा से ही बताई जाती है । जिसका लक्ष्य बुरा नहीं, बुरे लक्ष्य का जिसे आग्रह नहीं, ऐसा जीव चरण-करणानुयोग के प्रताप में निर्मलता को प्राप्त करता हुआ परिपूर्ण निर्मलता को प्राप्त कर सकता है । विघ्नेष ज्ञान से रहित भी जीव के लिए, यदि उसका लक्ष्य अच्छा हो, तो चरण-करणानुयोग परम उपकार का कारण बन जाता है । ज्ञानी भी चरण-करणानुयोग का आलम्बन सहज कर ही तिरता है । कोई भी ज्ञानी चरण करणानुयोग के आलम्बन के बिना तिरन मका । अतः सामान्य प्रकार का भी सच्चे ज्ञान वाला यदि चरण करणानुयोग में यथावत् सुस्थिर हो पाय, तो उसका विमला रूप बिना रहता ही नहीं ।

मुनि बनने की भावना है क्या ?

भगवान् नामक मुनिकार की यत्ना भी हम कर चुके हैं । जिन्हें 'मा धनं' और 'मा तुष्य' भी सादर न रहे, ऐसे मुनि ने भी कैसा ज्ञान प्राप्त किया तो किसे प्रभाव में ? उनके गुरु में यत्नता क्या थी ? तो परन्तु चरण करणानुयोग के आलम्बन के बिना क्या वे ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं ? यदि ऐसा मान लें, तो चरण करणानुयोग के बिना ही ज्ञान प्राप्त करने में क्या संशय है ?

न था और देखता था, तब उसने जो देखा और जो जाना उसे वह दिखा सकता है। जो देखा या जाना नहीं होता वह दिखाया नहीं जा सकता—यह बात स्पष्ट है। इस बात पर से आप समझ सकेंगे कि यहाँ टीकाकार महर्षि ने ज्ञान तथा चरण रूपी जो दो नयन बताए हैं वे विन्कल उपयुक्त ही हैं।

जिसे ज्ञान-चरण रूपी नयन युगल की प्राप्ति होती है, वह

आन्तरिक ओर बाह्य दुःखों से बचकर

आन्तरिक और बाह्य सुख

प्राप्त करता है :

श्री भगवतीजी सूत्र, ज्ञान-चरण रूपी नयनयुगल के द्वारा जीव को किवर प्रवृत्त कर रहे हैं ? कहेंगे कि जीव को मोक्ष की ओर प्रवृत्त कर मोक्ष में पहुँचाते हैं । श्री भगवतीजी सूत्र का यह नयन युगल ऐसा है कि जो कोई भी इस सूत्र को अच्छी तरह जान सके, गथाय स्वरूप में हृदय में परिणत कर सके, उसे भी ज्ञान-चरण रूपी नयनयुगल प्राप्त होता है । श्री भगवतीजी सूत्र का ज्ञान-चरण रूपी नयनयुगल द्वारा-ज्ञान चरण रूपी नयनयुगल वाता बनकर यह जीव जमझ, मोक्ष में पहुँच जाता है । ज्ञान चरण रूपी नयनयुगल द्वारा मोक्ष में पहुँचना ही ज्ञान चरण रूपी नयनयुगल की प्राप्ति ही परम फल है, परन्तु जगते पहिले भी जीव को ज्ञान-चरण रूपी नयन युगल की प्राप्ति में बहुत बाध होता है । ज्ञान चरण रूपी नयन-युगल को देखो यात्रा, शिवालय यात्रा, प्रवृत्त करने वाला, पढ़ा बना हुआ जीव यात्रा-रिक्त नया बाध दोनो प्रकार के दुष्टों में निपुण जानते हैं वह दुष्टों-परिहृत यात्रा-उभय प्रकार के दुष्टों को जान सके तो ही यात्रा होता है । ज्ञान-चरण रूपी नयनयुगल जिन जीव की प्राप्ति में बाध होता है वह दुष्टों-परिहृत ही है देव तो मागे पहिले

सामग्री को प्राप्त करता है तो वह उसमें आसक्त नहीं होता और उसका वैराग्य प्रबल बनता है। इस प्रकार ससार में भी जहाँ तक रहना पड़े वहाँ तक बाह्य और आन्तरिक सुख की प्राप्ति होती है और परिणाम स्वरूप मोक्ष सुख की प्राप्ति तो होती ही है। ज्ञान चरणरूपी नयनयुगल को प्राप्त करने का यह फल है। वह जीव स्वयं तो उस फल को प्राप्त करता ही है, परन्तु उस जीव से अन्य जीवों का भी काफी दुःख दूर हो जाता है और अनन्य जीवों को भी काफी सुख प्राप्त होता है।

ज्ञान-चरण का कार्य कारण संबंध .

उस श्री भगवतीजी सूत्र में ज्ञान और चरण उभय का निरूपण है। यह श्री भगवतीजी सूत्र इस प्रकार ज्ञानदान करता है कि नित्यस्वरूप का ज्ञान भी हो और चरण की प्रेरणा एवं प्रवृत्ति भी प्राप्त हो। जो ज्ञानदान ऐसा नहीं होता, वह ज्ञानदान वस्तुतः ज्ञानदान ही नहीं। जो ज्ञान चरण अर्थात् चारित्र्य को गीन ताण, उनी ही सच्चा ज्ञान कहते हैं। जिन ज्ञान में चारित्र्य को आकर्षित करने का सामर्थ्य नहीं, वह ज्ञान वस्तुतः तो ज्ञान ही नहीं। चारित्र्य को जाने के समर्थ रहित ज्ञान तो निरूनिये के समान है। जहाँ सच्चा ज्ञान होता है, वहाँ चारित्र्य का भाव अवश्य होता है। चारित्र्य के भाव का सम्मान और ज्ञान का सम्मान ये दोनों एक साथ सम्मान देने वाली वस्तु नहीं। चारित्र्य के भाव का रहित ज्ञान अज्ञान है। ज्ञान का सम्मान है। ज्ञान के साथ चारित्र्य का ऐसा सम्बन्ध होने चाहिए कि ज्ञान को जहाँ जो नयनयुगल की उपमा दी गई है, वह चारित्र्य ही है। ज्ञान और चारित्र्य का एक दुसरे को सम्मान देने वाला सम्बन्ध होना चाहिए। ज्ञान ही नहीं होता, परन्तु यह तो सम्मान और सम्मान चारित्र्य ही ज्ञान है। सम्मान ज्ञान ही सम्मान ही है। ज्ञान ही सम्मान ही है। सम्मान ही सम्मान ही है और

सामग्री को प्राप्त करता है तो वह उसमें आसक्त नहीं होता और उसका वैराग्य प्रबल बनता है। इस प्रकार ससार में भी जहाँ तक रहना पड़े वहाँ तक बाह्य और आन्तरिक सुख की प्राप्ति होती है और परिणाम स्वरूप मोक्ष सुख की प्राप्ति तो होती ही है। ज्ञान चरणरूपी नयनयुगल को प्राप्त करने का यह फल है। वह जीव स्वयं तो इस फल को प्राप्त करता ही है, परन्तु उस जीव से अन्य जीवों का भी काफी दुःख दूर हो जाता है और अनन्य जीवों को भी काफी सुख प्राप्त होता है।

ज्ञान-चरण का कार्य कारण संबंध .

इस श्री भगवतीजी सूत्र में ज्ञान और चरण उभय का निरूपण है। यह श्री भगवतीजी सूत्र इस प्रकार ज्ञानदान करता है कि तत्त्वरूप का ज्ञान भी हो और चरण की प्रेरणा एवं प्रवृत्ति भी प्राप्त हो। जो ज्ञानदान ऐसा नहीं होता, वह ज्ञानदान वस्तुतः ज्ञानदान ही नहीं। जो ज्ञान चरण अर्थात् चारित्र्य को खींच लाए, उसे ही सच्चा ज्ञान कहते हैं। जिस ज्ञान में चारित्र्य को आकर्षित करने का सामर्थ्य नहीं, वह ज्ञान वस्तुतः वा ज्ञान ही नहीं। चारित्र्य को लाने के समर्थ रहित ज्ञान तो निपूणिये के समान है। जहाँ सच्चा ज्ञान होता है, वहाँ चारित्र्य का भाव प्रवर्धित होता है। चारित्र्य के भाव का अभाव और ज्ञान का गद्भाव ये दोनों एक साथ सम्भव होने नहीं सकते हैं। चारित्र्य के भाव में रहित ज्ञान अज्ञान है और वह निष्प्रदान है। ज्ञान के भाव चारित्र्य का ऐसा सम्बन्ध होने का ही ज्ञान चरण को यही तो नयनयुगल की उपमा दी गई है, वह भाव ही ज्ञान होता है। ज्ञान और चारित्र्य का यदि कुछ भी सम्बन्ध नहीं होता तो वे एक-दूसरे का भाव नहीं लेते, परन्तु यह तो सम्बन्ध ही है। चारित्र्य की भाव है। सम्प्रज्ञान जैसे सम्प्रज्ञान ही ज्ञान और चरण का सम्बन्ध है।

की कमाई को समझते हैं, उन्हें उस दृष्टि से भी ऐसा विचार आता है, परन्तु यह विचार आवश्यक है इसमें कोई इनकार नहीं कर सकता। आपका लड़का यदि पढा हुआ हो परन्तु गुना न हो तो आपको दुःख लगता है और आपका लड़का पढा लिखा हो, चतुर हो, परन्तु यदि वह कमाने की ओर ध्यान न देता हो, तो उससे आपको अधिक दुःख होता है। अरे ! लड़का पढा लिखा कम हो, परन्तु यदि वह कमाई की ओर लक्ष्य देकर अच्छी कमाई कर लाता हो, तो वह आपको प्रिय लगता है और ऐसा होता है कि यह लड़का बिना पढ़े लिखे भी कितना अधिक अच्छा है ? यदि यह लड़का अधिक पढा लिखा होता तो कितना अच्छा होता ? 'ऐसा आपको होता है न ? इस पर से आप सरलापूर्वक समझ गए होंगे कि ज्ञान और चारित्र्य का कितना निकट और कितना आवश्यक सम्बन्ध है ? अतः ऐसा जो समझता है, वह अकेले ज्ञान को महत्ता दे भला ? चारित्र्य की आवश्यकता को लाये भला ? नहीं, कदापि नहीं। वह तो कहेगा कि ज्ञान मचना वह है जो चारित्र्य को लाए और चारित्र्य यथार्थ वही है जो ऐसे ज्ञान के उपार्जन हेतु जीव को बहुत २ उत्साहित बनाए। टीताकार मनुष्य ने ज्ञान और चरम को नग्नशुभल की जो उपमा दी है वह निम्नी उपयुक्त है—यह बात आप समझे—इसका यह उदाहरण है।

सुन्दर ज्ञानने में धूत मिरी:

यम मंड भी तब तो आप आने मुनी होगी। उसकी प्रीति को भी मैंना कतना पडा ? यही है कि —

आनंद = क्या करे ? मन तो मे घने दूर

तब भी सेठ ने तो उसका मुँह बन्द करते हुए कहा - 'मैं जानता हूँ' परन्तु सेठ उठा नहीं।

वे चोर उस गठरी को उठा कर घर से बाहर निकलने लगे कि सेठानी ने पुनः सठ से कहा कि ये तो उठा कर चले।'।

सेठ ने कहा - 'मैं जानता हूँ।'।

सेठानी औरत जाति की। डरपोक भी थी और निर्बल भी थी। उमनिये चोरो को वह रोक न सकी, परन्तु उसका क्रोध बहुत बढ़ गया। जैसे ही चोर घर से बाहर निकल पड़े कि सेठानी ने सेठ को जोर से कहा - 'चोर तो सब कुछ उठाकर चलते वने।'।

तब भी सेठ कहता है 'मैं जानता हूँ।'।

तब सेठानी को कहना पड़ा कि तुम्हारा जानना धूल में गया जानता है, जानता है - कहते रहे, परन्तु बचाव तो कुछ भी न कर सके।' ऐसे जानने पर तो धूल ही गिरेगी या जोर कुछ ?'

जानकार सुटता है तो उसे

अधिक दुःख होता है :

इन बात में तो आप भी कहेंगे कि सेठानी ने सेठ को जो कुछ भी कहा था उचित ही कहा है।' जानने पर ननाया जा सकता था फिर भी जानने का प्रयत्न नहीं किया, उमनिये न ? निम्नानि निम्नानि ही चोर जाते हुए भी बचाव न तो सके यह निश्चय बात है, परन्तु ऐसे समय में ही आप में क्या होता ? ? तब समय में अन-
 क्षरित दया जानकार था होता है।
 धर्म बल ही जानता समान
 बल बल ही जान

हुए, परस्पर संवादात्मक वर्णन भी किया गया है। इसका तात्पर्य इतना ही है कि जितनी आवश्यकता और महत्ता ज्ञान की है, उतनी ही आवश्यकता और महत्ता चरण की है। न तो ज्ञान के बिना चल सकता है न चरण के बिना चल सकता है। कोई कहेगा कि इन दोनों में प्रधान कौन ? तो कहना पड़ेगा कि दोनों ही अपनी २ अपेक्षा से प्रधान है। किसी जीव विशेष के लिये ज्ञान चरण का कारण होता है, तो किसी जीव के लिये चरण ज्ञान का कारण बनता है। मोक्ष मार्ग का निरूपण करते हुए, किसी ने भी मात्र ज्ञान से मुक्ति नहीं कहा और न किसी ने मात्र चरण से मुक्ति कहा है। ज्ञान चरण के योग से ही मुक्ति कहा है। फिर किसी जीव में ज्ञान प्रधान रूप में मुक्ति साधक होता है और अमुक जीव में चरण प्रधान रूप से मुक्ति साधक होता है, परन्तु ज्ञान यदि चरण से सर्वथा निरपेक्ष होतो वह ज्ञान भी मुक्ति साधक नहीं बन सकता और चरण भी यदि ज्ञान से सर्वथा निरपेक्ष हो तो वह, चरण भी मुक्ति साधक नहीं बन सकता। ज्ञान को मुक्ति साधक बनने के लिए चरण की अपेक्षा रखनी पड़ती है। और चरण को मुक्ति साधक बनने के लिये ज्ञान की अपेक्षा रखनी पड़ती है। परस्पर आश्रित बन कर दोनों मुक्ति के साधन बन सकते हैं और परस्पर आश्रय छोड़ कर दोनों में से एक भी मुक्ति का साधन नहीं बन सकते। इसीलिए ज्ञानी के मन में चरण की मानना होती है और चरणवाने के मन में ज्ञान ही महत्ता होती है। यदि ज्ञानी या चारित्र्यी एक दूसरे की उपेक्षा करने लगे, तो दोनों ही दुखते हैं परन्तु दोनों में से एक भी निश्चय प्राप्त नहीं कर पाता।

ज्ञान श्रवणानिक गुण :

ज्ञान के पाँच प्रकार हैं। मनिज्ञान, धर्मज्ञान, अविज्ञान, मन्त्रज्ञान और वेदज्ञान के इन पाँच में से ज्ञान ही महत्ता है। इस

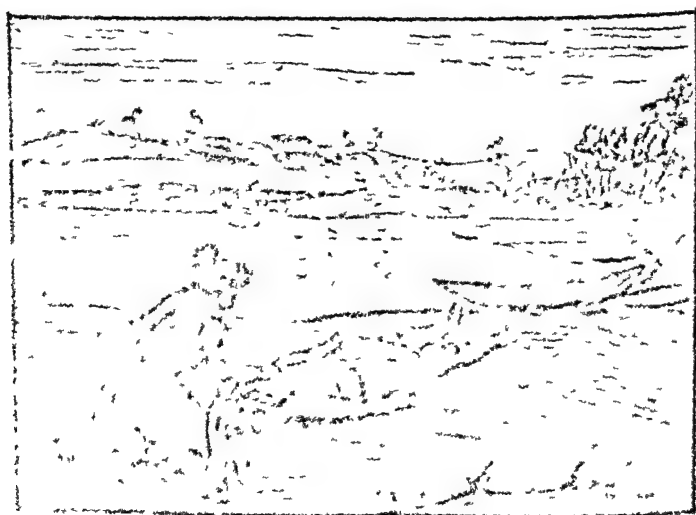
ज्ञान चरण दोनों में रहें :

किसी भी वस्तु की प्राप्ति ज्ञान मात्र से नहीं होती। वस्तु का ज्ञान चाहिये, वस्तु प्राप्ति के उपाय का ज्ञान चाहिये, परन्तु उसे प्राप्त करने के प्रयत्न रूपी चरण की भी आवश्यकता है। भोजन के ज्ञान मात्र से भोजन तैयार नहीं हो जाता, खाने के ज्ञान मात्र से भूख का शमन होता नहीं, चलने अथवा मार्ग के ज्ञान मात्र से इष्ट स्थल पर पहुँचा नहीं जाता, और व्यापार के ज्ञान मात्र से कमाई होती नहीं। सवधित ज्ञान की सफलता तत्संबंधी ज्ञान के अनुसार की जाने वाली क्रिया में ही होती है। इसी प्रकार मोक्ष रूपी स्थान पर पहुँचने के लिए मात्र ज्ञान से ही नहीं चलता, परन्तु क्रिया भी होनी चाहिये। केवल क्रिया विहीन ज्ञान की सच्ची कीमत नहीं आ सकती। केवल ज्ञान होने के पश्चात् भा जब सर्व सवर नामक क्रिया आती है तभी मोक्ष होता है। केवल ज्ञान होने के पश्चात् भी कदाचित् न्यून पूर्व कोटि वर्षों तक भी जीव को संसार में रहना पड़े—ऐसा भी होना है, जब सर्व सवर नामक चरण आता है, तब तो नियम पूर्वक पाँच ह्रस्वाक्षरके उच्चारण में जितना समय लगता है उतने काल में मुक्ति हाँ ही जाती है। केवल ज्ञान प्रकट हुए बिना सर्व सवर स्पी चारित्र्य नहीं आ सकता, परन्तु यथागता चारित्र्य के बिना केवल ज्ञान भी प्रकट नहीं हो सकता। यद्यपि यह बात भी याद रहनी चाहिये कि सर्व सवर चरण का कारण केवल ज्ञान आने पर ही प्राप्त हो सकता है। ये सब जाने इसीनिमित्त है ताकि ज्ञान और चरण की आवश्यकता और महत्ता समझ में आए। जीव को यदि अपना सच्चा स्वभाव करना हो तो ज्ञान और चरण उभयों में ही आश्रय लेना है। जितना ज्ञान और जितना चरण होगा उतना ही मोक्ष होगा। इसीलिए ज्ञान और चरण दोनों में रहना है। ज्ञानचरणों के उचित संयोजन से ही मोक्ष प्राप्त हो सकता है।

का मदाग्रह जानी नहीं करेगा तो कौन करेगा ? ऐसा जानी जो नत्त्रिया का समर्थक नहीं जो चारित्र्य हीन के ज्ञान का कोई महत्व ही नहीं, परन्तु उससे उसकी और अन्य अनेको की हानि है ।

दोनो की प्रधानता लगे ।

छत्तीस प्रकार की रसोई के नाम जानने वाला और वत्तीस प्रकार के मागो के नाम जानने वाला यह मंत्र उसकी थाली में परामा जाने पर भी यदि उन्हे मंत्र गिनता ही रहे और कौर लेकर मुँह में ररो नहीं तो उमे उनका स्वाद आएगा क्या ? उमका पेट भरेगा क्या ? बालक भले ही नाम न जानना हो, परन्तु वह खाता है और उमे उमका स्वाद लगना है । इसी प्रकार ज्ञान भले ही कम हो परन्तु चारित्र्य का शुद्ध पालन हो तो वह स्वाद भिन्न ही होता है । एक





आशय से की गई क्रिया से हो दुःख की प्राप्ति होती है—ऐसा क्यों ? अज्ञानतावश । सुख कहाँ और कैसे इस बात का ज्ञान नहीं इसी-लिये ! सर्व व्यक्ति ही क्रिया का विरोध करता है । क्रिया करने वाला और क्रिया से ही जीवित रहने वाला यदि समझदार हो, तो भला क्रिया का विरोध करे भी ? हाँ समझदार व्यक्ति गलत क्रिया का विरोध अवश्य करेगा । जो क्रिया पापमय हो, पापजनक हो और दुःख देने वाली हो उस क्रिया का विरोध करेगा और कहेगा कि सब के लिये तो अमुक अमुक क्रिया अमुक अमुक विधि से करनी चाहिये । अतः यह विरोध क्रिया का नहीं, परन्तु ज्ञान के अभाव का है, अज्ञान का है । ज्ञानी कहते हैं कि आप लोग मुख के लिये क्रिया तो करते ही हैं परन्तु नमस्क पूर्वक करने योग्य क्रिया करे । ज्ञान और क्रिया से मोक्ष—उस प्रकार मोक्ष के उपाय का निरूपण करते हुए ज्ञान को प्रथम स्थान दिया, क्योंकि सम्यग्ज्ञान के बिना सम्यक् क्रिया नहीं आती और केवल ज्ञान हुए बिना सर्व सत्त्व की क्रिया नहीं आती । परन्तु क्रिया तो ज्ञान के बाद सत्त्व भी ज्ञानीजनों ने एक महत्वपूर्ण बात बता दी है कि जिसे ज्ञान मिले उसे क्रियाशील बनाने का लक्ष्य रखना ही चाहिये । जो ज्ञानी क्रियाशील बनेगा वह निरेगा । ज्ञान का फल निरे प्राप्त करना होगा उसे क्रियाशील बनना ही होगा । कोई भी ज्ञानी किसी भी प्रकार की सत्क्रिया के बिना केवल ज्ञान या मुक्ति तो प्राप्त नहीं कर सका । अतः ज्ञान से क्रिया को गौण बनाकर क्रिया ही महत्वा को बता दी है, क्योंकि मोक्ष स्वी फल ज्ञान सहित क्रिया होने से ही प्राप्त होगा होगा इसमें निर्देश है । समाप्त में जीवित जीवित को ? ही परन्तु वे ज्ञान के योग में ही सत्क्रियाशील बन सकेंगे । ज्ञान को प्रथम स्थान दिया है । सत्क्रियाशील अर्थात् सत्त्व सत्त्व । बताया नहीं नमस्के, परन्तु जो सम्यग्ज्ञान पूर्वक सत्त्व सत्त्व ज्ञान ही नहीं परन्तु सत्त्व से सत्क्रियाशील है ।

ज्ञान और क्रिया की अपेक्षा :

ज्ञान और क्रिया दोनों ही आवश्यक हैं, ज्ञान ज्ञान ही है, यह समझ

अर्ध पुद्गलपरावर्त काल से भी अल्प काल में सम्यक्चारित्र्य की प्राप्ति अवश्य करवाता है। जो क्रिया प्रत्यक्ष रूप में सत्क्रिया भी हो परन्तु यदि वह सम्यग्ज्ञानपूर्वक न हो, तो वह क्रिया सम्यग्ज्ञान को अवश्य दिलवाए-ऐसा नहीं कहा जा सकता। फिर भी सत्क्रिया सम्यग्ज्ञान प्राप्ति में कारण न बने-ऐसी बात भी नहीं है। सत्क्रिया सम्यग्ज्ञान प्राप्ति में कारण बने ऐसी बात भी नहीं है। सत्क्रिया सम्यग्ज्ञान प्राप्ति में, वृद्धि में और स्थाई बनाए रखने में बड़ी सहायक होती है। साथ ही सत्क्रिया देखने से लघुकर्मी भद्रिक जीव अनुमोदन कर मोक्ष मार्ग की प्राप्ति का बीज अपने अन्तःकरण में बोते हैं। बालजीवों को धर्म की ओर आकृष्ट करने में सदाचार पहिला हेतु है। चरित्रहीन ज्ञानी निन्दा पात्र होता है परन्तु ज्ञानरहित चारित्र्य वाला निन्दा पात्र नहीं होता। ज्ञान गुण भी सच्चा परोपकार तभी बन सकता है जब वह चारित्र्यगुण युक्त हो। चारित्र्यगुण युक्त ज्ञान गुण अपनी महत्ता को और परोपकारिता को सुन्दर ढंग से मिश्र कर सकता है। अतः ज्ञान और चारित्र्य दोनों की आवश्यकता है और वे भी नम्य प्रकाश के होने चाहिये।

समस्त सच्ची चाहिये और क्रिया भी अच्छी होनी चाहिये :

समस्त सच्ची न हो और उग्टी समस्त हो, तो अच्छी क्रिया भी ऐसी होती है कि वह तारक बनने के बजाय मारक बनती है।

एक सच्चा अन्ध जो बीमार पिता के लिए दवाई लेने देगा रोग में लाभ होगा। दूसरे जो उसने अपने पिता का बीमारी की मारी बात नहीं मनी है। वेद में जो लाभ पर दवाई पिता से और यह लाभ उस दवाई को देने वाला नहीं मरी दवाई मरने में पानी के साथ फाट कर

पिता की बीमारी इस प्रकार बढ़ गई, तब उस वैद्य को घर बुलाया। वैद्य के आते ही उस लड़के ने कहा—‘आपके द्वारा दी गई दवाई देने के पश्चात् तो मेरे पिता का रोग और अधिक बढ़ गया।

वैद्य को जरा बहम हुआ। उसने पूछा—‘दवाई लाने में तो कोई गलती न हो गई? क्योंकि उसे विश्वास था कि वह दवाई करे तो लाभ ही करती है।

वह लड़का कहता है कि ‘दवाई अन्यत्र कहीं से लाया ही नहीं, आपके वही से दवाई लाया था और दवाई आपके कहने के अनुसार खरल में घोट कर मैंने तुरन्त पिला दी थी।

वैद्य ने कहा—‘मैंने तो दवाई दी ही न थी, परन्तु दवाई तिराी ही थी। यह दवाई बाजार में से लानी थी तो फिर तेरे पिता को तूने पिलाया क्या था?

लड़का बोला—‘मैंने तो आपने जो दिया था वही घोट कर पिला दिया।’

वैद्य ने कहा—‘मूर्ख! दवाई के बजाय दवाई तिराया हुआ कागज ही घोटकर पिला दिया, फिर बीमारी बढ़ेगी नहीं तो होगा भी क्या! फिर वैद्य ने स्वयं ही उपचार कर उसके पिता को बीमारी से बचा लिया।

यहने का मतलब यह है कि समझ यदि मज्जती न हो और बढ़ती हो तो ऐसा परिणाम भी आ सकता है। अतः सच्ची समझ के साथ अभ्यास या योग मिले तो मोक्ष मध्य मारना है।

समझा सद्व्यास बाध-मेघ से ही होता है :

जो समझ मज्जती न हो उसका नाम ही समझ-मेघ है, जो समझ को बाध करता है और दवाई से रोग न दूर होता है। क्योंकि

न्याय्य है। आज जगत में कितनी अन्धेर गिर्दी चल रही है ? एक दूसरे का नाश कर कैसा भयकर अत्याचार फैल रहा है ? अपनी आशाओं की परितृप्ति हेतु दूसरों को असीम हानि पहुँचाकर इन्सानियत का वारो और नीलाम बोला जा रहा है। यह सब क्यों ? अथवा इस ससार में छोटा या बड़ा जो कोई भी दुःख है, वह क्यों है ? भाव नेत्र के अभाव से। भाव नेत्र के पास द्रव्य नेत्र की कीमत नहिं वत है।

भावनेत्र-यज्ञ :

यह श्री भगवतीजी सूत्र का जो श्रवण करवाया जाता है वह भाव नेत्र यज्ञ है। इस सूत्र के श्रवण से मिथ्यात्व की लगी हुई मलीनता दूर हो और अविरति की दीमक का नाश हो अर्थात्, ज्ञान चरण रूपी नयन युगल प्राप्त हो। जाम हुए पटल दूर न हो, पपड़ी फूटी रक्त-मांस की गाँठ न कटे, तब तक नेत्र मात्र पीड़ा प्राप्त करने के लिए ही है। वह दूर होतो पीड़ा जाए और प्रकाश प्राप्त हो, जिनमें प्रमोद हो, देराने को मिले, अन्धत्व दूर हो, इच्छित फलित हो। इस प्रकार भाव नेत्र अर्थात् ज्ञान-चरण रूपी नयन युगल को प्राप्त करने हेतु मिथ्यात्व और अविरति उन दो पर प्रहार करना चाहिए। उन दो पर प्रहार करने हेतु कपायो पर आक्रमण करना चाहिये। श्री भगवतीजी सूत्र का श्रवण करवाना, ऐसा आक्रमण करने के समान है। उन्नीसवें यह भाव नेत्र यज्ञ है। आप जितना लाभ उठाते हैं उसना आपने लिए यह यज्ञ फलोद्भूत है। कहा जायगा। अतः आपने निर्गम्य तन्मा चाहिये कि अब हमें ज्ञान चरण रूपी नयनयुगल प्राप्त करना है और इस निर्गम्य या अनुगम्य पर आपने अपने मन नयन प्राप्त करने के लिए जो मोड़ देना चाहिये। आप सब यदि अपने मन नयन प्राप्त करने के लिए जो मोड़ देकर ज्ञान और चरण रूपी नयनयुगल प्राप्त करने का प्रयत्न करें तो इस भाव नेत्र यज्ञ के प्रति भावनाभाव उत्पन्न होगा। आपने जो मोड़ देना है वह यज्ञ के प्रति भावनाभाव उत्पन्न होगा।

जा सकता है। इसी प्रकार ऐसे श्रवण से किसी भी बात को अपेक्षा पूर्वक समझने का सामर्थ्य प्राप्त होता है। इसमें से तो साधुता और सिद्धि की भी प्राप्ति होती है। तात्पर्य यह है कि इस महत्वपूर्ण ज्ञानामृतपान की रुचि बढ़ाएँ और जीवन को सार्थक बनाने का सामर्थ्य प्राप्त करें।

नयवाक्य मिथ्यावाक्य ही—

ऐसा नहीं कहा जा सकता ।

हम चर्चा तो यह कर रहे थे कि भगवान ने प्रत्येक पदार्थ को द्रव्यास्तिक नय से तथा पर्यायास्तिक नय से जानने और मानने का निर्देश दिया है। इस बात को आत्मा द्रव्य की अपेक्षा से आप मोचे जिसमे आप मरनता पूर्वक यह बात समझ सकेंगे। प्रत्येक आत्मा अमर है यह तो आप जानते हैं न ? प्राणों का वियोग होता है, मृत्यु हुई ऐसा कहते हैं, फिर भी आत्मा तो मरती ही नहीं है। चाहे जैसे ही तब भी आत्म द्रव्य तो विद्यमान ही रहता है। यह हुई द्रव्यास्तिक नय की वार्ता आत्मा के अमरत्व को स्वीकार करते हुए भी ऐसा कोई नकार नहीं सकता कि जन्म-मरणादि होते हैं, ननु-मर्ति में परिभ्रमण होते हैं। यह सब पर्यायास्तिक नय को मानने से निज ही सकता है। देव गति में भी यही आत्मा और नरकादि गति में भी यही आत्मा फिर भी यह देव, नारक आदि भी कहताती है- इस प्रकार दोनों नयों का संग्रह मध्या है। जो आत्म स्वयं से विभुग बनकर पुद्गल में आनन्द भवते हैं, वे भग में नाचते हैं, भट-कते हैं, परिभ्रमण करते हैं। जिया की कठिनाई में उर कर मरिष्या में उर करने वाले तथा गामादिक शब्द नयाम विद्याप्रा को करने वाले भी वे भग भग भट्टरवा पदार्थ हैं। उनमें वे तभी-कभी सत्त्व भगों के शब्दों पुद्गलार्थों भी करने हैं और पुद्गलों के कारण पदार्थों के पदार्थों के पदार्थों भी करते हैं। इस प्रकार मगार में

१६ : निश्चय-व्यवहार

दो गण्डस्थल :

अगले विशेषण में भी नय की ही बात आती है । समुन्नत जयकुंजर के साथ श्री भगवतीजी सूत्र की तुलना करते हुए टीकाकार महर्षि आचार्य भगवान श्रीमद् अभयदेव सूरेश्वरजी महा राजा, चौदहवें विशेषण के रूप में फरमाते हैं कि—

‘निश्चय व्यवहार नयसमुन्नतकुम्भद्वयस्य’

अर्थात् जयकुंजर के जैसे समुन्नत दो गण्डस्थल होते हैं, उसी प्रकार यह श्री भगवतीजी सूत्र भी निश्चय नय तथा व्यवहार नय स्त्री दो गण्डस्थलों में युक्त है ।

निश्चय नय और व्यवहार नय :

निश्चय नय और व्यवहार नय इन दो नयों के भी विशेष वर्णन में न आया कर, आपकी मर्यादापूर्वक समझ में आया होगा । सुनिश्चित अथवा परिपूर्ण कार्य दशा को मान्यता को प्राप्त निश्चय नय है, जब कि व्यवहार नय तो कारण की प्रत्या-
पत्ति का नय है । एक प्रत्यक्षता को सामान्य रूप में आप जानते हैं

एक रस्मी को ढीलो छोड़ कर दूसरी रस्सी खींची जाती है, परन्तु दोनों छोर हाथ में ही रहने चाहिये। एक भी छोर यदि हाथ में से छूट जाय तो मथानी का घूमना रुक जाता है। इसी प्रकार निश्चय या व्यवहार एक को भी छोड़कर कल्याण सिद्धि नहीं हो सकती। दोनों को साथ रखने पर केवल ज्ञान रूपी मक्खन प्राप्त होता है।

व्यवहार से वंचित रहने वाला ठगा जाता है :

यह पचमाग श्री भगवतीजी सूत्र भी निश्चय और व्यवहार नय को लेकर चल रहा है। श्री वीतराग परमात्मा के शासन में सारे ही शास्त्र, दोनों नयों के आधार पर चल रहे हैं। अकेले निश्चय नय को पकड़ रखने वाले अपने आप को अध्यात्मी बताकर मोक्ष क्रिया से वंचित रहते हैं। यदि वे सभी क्रियाओं से वंचित रहते होते तब तो भिन्न प्रश्न होता, परन्तु ये वेचारे तो तारक क्रियाओं से ही वंचित रहते हैं। मात्र धर्म क्रियाओं में धर्म क्रियाओं के व्यवहार में ही वे व्यवहाररहित रहते हैं, वरना तो व्यवहार के बिना उनका व्यवहार चलता ही कहाँ है। पाने पीने, पहिनने ओढ़ने आदि पौद्गलिक भोगोपभोग सम्बन्धी व्यवहार को जारी रखकर वे अपने आप को व्यवहार रहित कहलवाते हैं। ऐसी सभी क्रियाएँ करे और धर्म क्रियाओं में अखाड़े करे तो इसका अर्थ क्या ! इसका अर्थ है अनर्थ। प्रमाद की पीडा का ही यह एक प्रकार है। जहाँ तक देह से संचित व्यवहार नहीं टूटता नहीं तब आत्मा आदि आत्म हितकारी क्रिया के व्यवहार से वंचित रहती है, तो वह ठगी हो जाती है। जहाँ तक बाह्य साथ तगा हुआ है, तब तब आत्महितकार धर्म व्यवहार की अवश्य आवश्यकता रहती है। बाग्य बगइँची की व्यवहार रूत ही रुक जाता है, परन्तु तब तब धर्म व्यवहार में अटकने वाला स्वयं लटकता है। मिट्टावरणा को प्राण करने के पश्चात् से बाहरी आलंबन नहीं और इग्निये न रखने से ही है, परन्तु इग्निये पहिने व्यवहार को छोड़ने की बात नहीं रहने-धर्म व्यवहार की आवश्यकता नहीं तब निश्चयकारी,

ही नहीं है। सम्यग्ज्ञान के अभाव में निश्चय होता है पर पौद्गलिक सुख की रमणता का। यह निश्चय शुद्ध व्यवहार का बाह्य रूप से आचरण करने देता है, परन्तु अन्तरतम को तो वह मलीन ही बनाता रहता है। अशुद्ध व्यवहार के लिए शुद्ध व्यवहार वस्तुतः शुद्ध व्यवहार ही नहीं। शुद्ध व्यवहार आन्तरिक और बाह्य शुद्धि के लिए ही चाहिये। यह निश्चय के बिना संभव नहीं। वेचारा अभव्य व्यवहार निष्णात होने पर भी तिरता नहीं क्योंकि उसमें निश्चय का अभाव होता है।

व्यवहार शिवबीज भी बनता है और भवबीज भी बनता है: निश्चय की उपेक्षा करने वाले और व्यवहार में ही सर्वस्व को स्थापित करने वाले भी महान् अज्ञानी ही हैं। कहा है कि—

‘व्यवहार प्रतिभासो दुर्णयकृतवालीशस्य भवबीज, व्यवहार चरणं पुनरनभिनिविष्टस्य शिवबीजम्।’

व्यवहार का प्रतिभास समार का बीज बनता है। व्यवहार का प्रतिभास अर्थात् मात्र व्यवहार का ही पोषण करने में आए ऐसा व्यवहार, वह समार का बीज हो जाता है। व्यवहार का आचरण हो, परन्तु यदि उसी का आग्रह न हो तो यही व्यवहार शिव बीज बन जाता है। तात्पर्य यह है कि व्यवहार या निश्चय किसी एक के भी कदाकाली न बनना चाहिये। जहाँ तक कार्य न हो, परिपूर्ण फल न मिले, तब वह कारण से निपटे रहना चाहिये न अर्थात् व्यवहार को निपटना तो आवश्यक है ही, परन्तु व्यवहार को जो मायन समझकर निपटा हो, वह निश्चय की-मायन ही शोष में ही रहता है और उग्रता तथा गरम को निपटने वाला ही मिला होता है। मैं तो ऐसे लोगों के व्यवहार को चर्चित कर रहा हूँ जो निपटार की शोष में ही सोन माय व्यवहार के ही कदाकाली हैं। ऐसी का व्यवहार उनके ही चरणों का बीज बनता है। कदाकाल रक्षित व्यक्ति के विषे यही व्यवहार ही बीज बनता है। शिव बीज बन में ऐसा भी



अन्य प्रति में प्राप्त होता है। उसमें से लेकर ही यहाँ हम इस विषय के संबंध में विचार करते हैं।

नाथ वे जो योग-क्षेम करे :

लोकनाथ की व्याख्या करते समय महापुरुष फरमाते हैं कि जगत के जीवों के योग प्रीरक्षेम को जो करने वाले होते हैं, उन्हें



नाथ कहते हैं। तिनकारी वस्तु की प्राप्ति करवाना 'योग' कहना है और जो तिनकारी वस्तु प्राप्त हो सकी हो जिसकी प्राप्ति करवाने में मदद हो—उसका परिचालन करवाना 'क्षेम' कहना है। इस प्रकार जो योग प्रीरक्षेम करने में समर्थ हो और योग यक्षों पर भी इसी प्रकार नाथ है। अपने आप को नाथ कहना है पर जो दूसरा मदद करे उसे नाथ भी, जो स्वयं जिम्मेदार नाथ है।

जिनेश्वरदेवो का ही आता है। जगत के जीव मात्र का कल्याण करने वाले शासन की स्थापना तो मात्र इन्हीं परम पुण्यशालियों से होती है। पौद्गलिक सुख के साधनों का योग कर और उसका रक्षण करने का प्रयत्न करके भी किसी भी जीव को सच्ची तरह से और सब प्रकार ने दुःख से मुक्त नहीं किया जा सकता और उमसे संपूर्ण सुख उसे प्राप्त नहीं करवाया जा सकता है। इसके लिये तो मात्र मोक्ष का ही दान करना आवश्यक है। सच्चा नाथ, परम नाथ तो केवल मोक्ष का दान करने के लक्ष्य वाला ही होता है। दूसरे जो कोई दान वह करता है, वे भी मोक्ष हेतु से ही करता है, अतः इन दोनों का समावेश भी मोक्ष दान में ही होता है। जिसे मोक्ष मिलता है, उसका सारा ही दुःख सदा के लिये मिट जाता है और वह सदा के लिये सम्पूर्ण कोटि का सुख पाने वाला बन जाता है। ऐसा दान, भगवान् श्री जिनेश्वर देव करते हैं। भगवान् श्री जिनेश्वर देव ऐसा दान स्वयं ही करते हैं-ऐसा नहीं, परन्तु ऐसा दान करने का जो मार्ग है, उसे प्रवाहित करते हैं, कि जिस मार्ग के प्रताप से अनेकानेक अज्ञ जीव भी मोक्ष का दान करने वाले बनते हैं। इस प्रकार मोक्ष का दान करने वाले नाथ के मुकाबले में अन्य कोई भी नाथ नहीं आ सकते।

मोक्ष का दान उपदेश से ही होता है और उसके लिये सामने वाले जीव की पात्रता आदि आवश्यक है।

मोक्ष का दान मोक्ष का उपाय बताकर ही हो सकता है। किसी भी पौद्गलिक सुख की भाँति मोक्ष दिया नहीं जा सकता। ज्ञान ही देता कि मग्न में विद्यादान कैसे दिया जाता है। पढ़ाने वाले और पढ़ने-वाले के सुयोग से ही विद्यादान हो सकता है न? विद्या की सीढ़ी तभी परम्पर चढ़ाई जाती है। इसे यह कहते हैं और इसे वह कहते हैं। इन्हें मग्न में ऐसा होना है और जबके सयोग में ऐसा होना है। इस प्रकार जगत् में विद्यादान किया जाया है।

रत्नत्रयी को प्राप्त करे और उसका पालन करे—ऐसे

उपकार की सर्वोत्तमता :

भव्य जगत के नाथ ऐसे भगवान् भव्य जीवों को क्या प्राप्त करवाते हैं और किसका परिपालन करते हैं ? भगवान् भव्य जीवों को सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र्य रूपी रत्नत्रयी को प्राप्त करवाते हैं और उसी का परिपालन करते हैं । रत्नत्रयी को प्राप्त कर सकने की योग्यता वाले जीव उसको प्राप्त कर सकें और उन्हें प्राप्त रत्नत्रयी का वे रक्षण कर सकें, परिपालन कर सकें—ऐसा ही उपदेश भगवान् देते हैं । रत्नत्रयी को प्राप्त कर सकें तथा उसका पालन कर सकें—ऐसा उपदेश देना—उसके समान इस जगत में दूसरा कोई उपकार ही नहीं है । अन्य उपकार तो अल्पकालीन भी होते हैं, उपकार होने न होने की उच्छ्वासे भी होते हैं, परिणाम में अपकार मिद्ध होने वाले भी होते हैं, परन्तु रत्नत्रयी को प्राप्त कर सकें और उसका पालन कर सकें—ऐसे उपदेश का दान रूपी जो उपकार है, वह उपकार ऐसे किमी भी दूषण से दूषित नहीं है । इस उपकार को जो ग्रहण कर सकें यह उस लोक में भी सुखी होना है और उसका भविष्य चन्द्र की चट्टी हुई कला की भाँति उज्ज्वल होता जाता है । उसमें वह भूत वर बैठे नो यह भिन्न प्रश्न है, परन्तु उपकार में न्यूनता नहीं है । मानो कि ऐसे उपकार को स्वीकार करने के बाद जीव प्रसन्न बन जाय, भूत जाय किमन जाय तब भी यह उपकार तो ऐसा है कि वह भीत पुनः अन्त काल में ही रत्नत्रयी को प्राप्त करने बिना रहेगा नहीं । एक बार किमने यह उपकार प्राप्त किया, पकवा, उसी मोक्ष मण्डपमार्ग की गमन है ।

ज्ञान को उपमा उपयुक्त ही है :

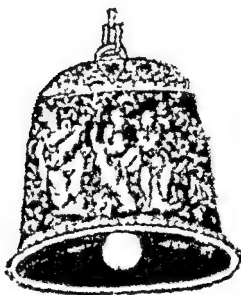
अ. ज्ञान ने मोक्षसागर किम उपदेश द्वारा दिया है उस उपदेश

है—यही महत्वपूर्ण बात है । आपको यदि रत्नत्रयी प्राप्त करने की इच्छा होगी, तो आप इस श्री भगवतीजी सूत्र के योग क्षेमकर गुण का लाभ उठा सकेंगे, और यदि वैसा होगा तो आप ससार में रहेंगे तब तक भी अपने आश्रितों के सच्चे कल्याण का प्रयत्न करने वाले बन सकेंगे ।



सच्चा ग्रन्थकार जो प्रस्तावना करता है, उस प्रस्तावना पर दृढ़ रह कर ही ग्रन्थ को आगे बढ़ाता है। इस प्रकार प्रस्तावना को दी गई सूँड की उपमा उपयुक्त ही है।

टीकाकार महर्षि ने मात्र सूँड न कहकर प्रचण्ड सूँड कहा है। जयकुंजर की सूँड प्रचण्ड होती है। श्री भगवतीजी सूत्र की प्रस्तावना भी ऐसी प्रचण्ड है कि सम्पूर्ण ग्रन्थ में से एक भी बात को कोई मिथ्या सिद्ध नहीं कर सकता। ऐसी वचन रचना से प्रस्तावना की गई है कि यह प्रस्तावना सूत्र की सत्यवादिता की सुरक्षित बनी रह सकती है।



आदि के रूप में और अन्त में उपसंहार भी आता है न ? कई ऐसे हैं जिन्हें इस प्रकार विस्तृत प्रतिपादन करना तो आता है, परन्तु उपसंहार करना नहीं आता । उपसंहार तो ऐसा है जो ग्रन्थ के रहस्य को खोल डाले । पिछली सारी बातों को मन में उपस्थित करवा दे । श्री भगवतीजी सूत्र भी निगमन रहित नहीं, परन्तु निगमन युक्त है और जो निगमन है वह भी अतुच्छ है । निगमन क्षुद्रता वाला नहीं, परन्तु गभीरता वाला है । परम उपकारी निगमन कैसा करते हैं वह तो उचित स्थान पर ही देखने को मिलता है । उपकारी जनो द्वारा रचित कथा ग्रन्थों में भी यह होता है, परन्तु यह वस्तु लक्ष्य में आए-ऐसी दृष्टि तो होनी चाहिये न ? मनोरञ्जक कहानियों की बात विशेष रूप से पढ़े, विशेष रूप से-याद, रखें और धर्मकथा के निगमन को प्रायः पढ़ा न पढ़ा करते हैं, क्योंकि उनमें रुचि है और इनमें नहीं है । ऐसी ही स्थिति प्रायः लगती है न ? आपने यदि धर्मकथा के निगमन को भी अच्छी तरह पढ़ा होता, तब भी आपको शासन के रहस्य का बहुत ज्ञान हुआ होता ।

मधुविन्दु का दृष्टान्तः

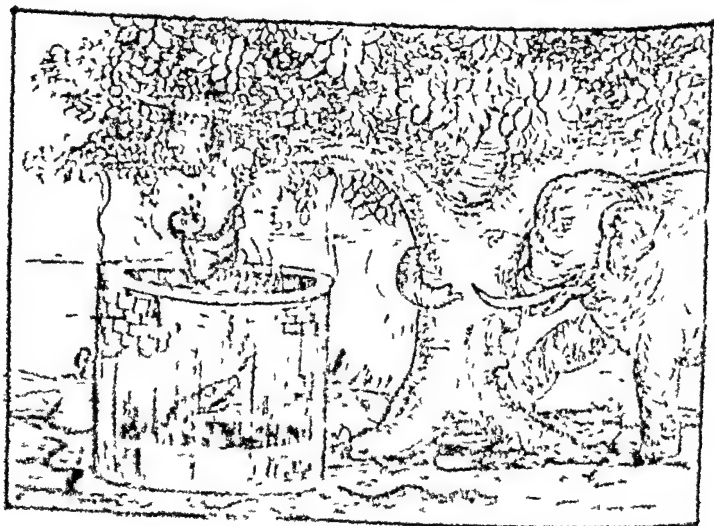
आपमें से कईगोने मधुविन्दु की कथा पढ़ी या सुनी होगी, परन्तु उगवा निगमन आपको याद है क्या ? उसका निगमन याद रहे, हृदय में रहे और आप उन प्रकार समार में व्यक्त हो कर रहे सकें, यह समझ नहीं है ।

जोई एक सादसी मार्थ के नाथ एन देण न हुमरे देण में गीर हुमरे देण में गीरने देण अमर्य तरता था। एन बार एंगा हुमा नि निम मार्थ के नाथ एन हुमन था। यह मार्थ मन्त्री में अटती में शुभ मन्त्री ।

इसका ही मन्त्रा बली था, परन्तु मन्त्री जैसी ही अटती में मन्त्री

ऐसा सोचकर उसने कुएँ में छलाँग मारी, परन्तु उसके हाथ में एक डाली आ गई। कुएँ के किनारे पर एक बट वृक्ष था। उस वृक्ष की एक बड़ी डाली कुएँ के मध्य भाग में सर्पाकार में लटकती थी। अचानक वह डाली उसके हाथ में आ गई और उसके आधार पर वह लटकता रहा।

हाथी ने कूप के पास आकर अपनी सूँड से उस व्यक्ति को कूप से बाहर निकाल कर मार डालने का विचार किया और ऐसा प्रयत्न भी किया परन्तु हाथी की सूँड उस व्यक्ति तक पहुँच न सकी।



इस प्रकार मरणावस्था के निम्न तो यह पुरुष हाथी के भय में नष्ट होता, परन्तु उसने वृक्ष में लीने स्थिति अपना ता एक विनाश आशय प्रयत्न और स्थिति अपना तब मुझे पाया बड़ा दुःख दिशाट दिया। अभी यह स्थिति मेरे मुँह में फिर आए सभी में उसे निम्न नृ-इय प्रकार

1

2

3

4

5

6

7

8

9

मधुविन्दु तुल्य है आदि वाते हृदय में बसनी तो चाहिये न ? आपको ससार कम नहीं सताता है । परन्तु विषय जन्य सुखों की आशा में विषयजन्य सुखों के आस्वाद में आप लोग ससार की पीड़ा की परवाह नहीं करते हैं । अभी तो मात्र एक ही बात है कि प्राप्त किया जाए उतना प्राप्त करो और भोगा जाए उतना भोगो ।

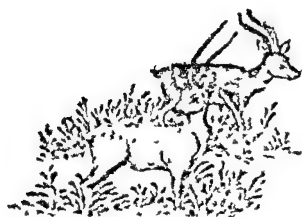
सद्गुरु का आलम्बन ग्रहण नहीं किया जाता :

मधुविन्दु के दृष्टान्त में ऐसा भी वर्णन आता है कि वटवृक्ष की शाखा से लटकता हुआ पुरुष वहाँ होकर विमान द्वारा पसार हो रहे हैं, एक देव दम्पति की दृष्टि में आता है उस पुरुष की अवस्था देताकर देवी को दया आती है और वह अपने स्वामी को उसकी रक्षा करने के लिए आग्रह करती है। देवी के आग्रह पर देवविमान कोनीने उतारता है और उस पुरुष को आलम्बन देकर विमान में लेने के लिये हाथ लम्बा करता है । उस समय मधुविन्दु के स्वाद में लीन बना हुआ वह व्यक्ति देव द्वारा दिये गए आलम्बन को ग्रहण नहीं करता । 'यह एक बूँद चम लूँ' — 'वम एक बूँद और चम लूँ' — ऐसे करता है और देव को तब आक्षेप जता जाना पड़ता है । इस पुरुष स्त्री ममारी जीव को दया स्वी देवी की प्रेरणा से तिराने की इच्छा मद्गुरुओं की होती है, मद्गुरु उमें आलम्बन देकर बनाने का प्रयत्न करते हैं, परन्तु विषयजन्य गुण में लीन बना हुआ ममारी जीव 'उतना भोग कर लूँ' — 'वम, उतना भोग कर लूँ' । ऐसा करता है मद्गुरुओं द्वारा प्रयत्न आलम्बन को ग्रहण नहीं करता । यह बात आप पर विचार करने में लाएँ होती है — हमारा विचार स्वयं ही करते हैं । मद्गुरुओं को प्रयत्न को जान लोग प्रमाण समझे हैं या नहीं और मद्गुरुजन

संसार में रहना और मृत्यु से बचना सम्भव नहीं है :

वैसे तो आप लोग मृत्यु से खूब डरते हैं। क्या आप समझते हैं कि यहा जो मृत्यु होने वाली है क्या वह प्रथम बार ही होने वाली है? नहीं, तब फिर आपको मरने में भय किस बात का लगता है? मृत्यु का भय यदि सच्चा हो तो संसार का भय लगे बिना रहे क्या? मृत्यु क्यों होती है? जिसका संसार जाए, उसकी मृत्यु भी जाए। संसार में जो हो, वह कभी भी मृत्यु से बच नहीं सकता। हम इस संसार में आज या कल के नहीं हैं, ५०-१०० वर्षों से नहीं हैं, परन्तु अनादिकाल से हैं। संसार में हमने अनन्तकाल बिताया और अनन्त मरण प्राप्त किये। जहा तक हम संसार में रहेगे तब तक तो मरने ही। मुक्ति में गए हुए ही नहीं मरते। मुक्ति में गए हुए क्यों नहीं मरते? उनके लिए जन्म नहीं इसलिये। उन्हें जन्म लेना होता, तो वे मरते भी। उन्हें जन्म नहीं लेना पड़ता, क्योंकि उन्हें जन्मनिवाए ऐसा कर्म उन्होंने शेष रहने नहीं दिया। वे सकल कर्मों से सर्वथा रहित बन चुके हैं। जो जन्म लेता है वह मरना ही है और जन्म उभी का नहीं होना, जो कर्म रहित ही हो। आपका जन्म हुआ है मत मरे बिना आपका छुटकारा नहीं और मरने के पश्चात् भी जन्म लिये बिना छुटकारा होने वाला है क्या? इस जन्म में भी मरना तो ही न? तब फिर मृत्यु का भय कैसा? मृत्यु भय को जन्म भय में बदलवा लेंगे। जन्म में डरकर जन्म के डर को बर्म के बन्धन के भय में बदलित करेंगे। कर्म के बन्धन में डर कर मरने की माधना कर निर्जन्म बनना शुरू करेंगे। नवीन कर्म बन्धन हो, बन्द हो तो सुखी करने जाय और पुराने कर्मों की निर्जन्म मध्ये, तो कर्म रहित अवस्था में मरने का अवसर आए। इस प्रकार जो मरे, वह मर कर जन्म नहीं लेता और जो जन्म नहीं लेता उस में भी मरना भी पड़ता। मरण में मरने अधिक करने वाले आप प्रतिशोध में डर जाय, तो माय मय से डरने, मयाय में डरने में।

मात्र साधु जीवन में ही हो सकता है, परन्तु अन्यत्र हो नहीं सकता। यह भी एक प्रकार से निगमन है। आज जो बातें कही गई हैं, उसके निगमन के रूप में आपको यह साधुता प्राप्त करने की बात कही गई है।



इन चार सन्ध्याओं के समय में से किसी भी सन्ध्या के समय नहीं हो सकता। इन चार सन्ध्याओं में से किसी भी सन्ध्या के समय जो साधु स्वाध्याय करता है, उसे भगवान की आज्ञा का उल्लंघन यदि दोषों की प्राप्ति होती है। किसी कारण विशेष में स्वाध्याय के काल का उल्लंघन हो तो वह दोषपूर्ण नहीं होता। जैसे हृदय में जो विधि बहुमान हो, विधि के प्रति आदर भाव हो, तो अविधि दोष रूप न होकर विधि की जनेता बनती है, परन्तु विधि बहुमान न हो, तो थोड़ी भी अविधि आज्ञाभंगादि की दोष रूप सिद्ध होती है। अतः आदर और उपयोग काल में कालोचित अध्ययन करने की ओर तथा अकालवेला में स्वाध्याय का त्याग करने की ओर रसना चाहिये।

पढ़ने पर भी निषिद्ध काल में पढ़े तो विराधना •

निषिद्ध समय में पढ़ने के लोभ से भी पढ़ना नहीं चाहिये। निषिद्ध समय में तो पढ़ने पर भी विराधना होती है। वैसे स्वाध्याय करना आराधना है, परन्तु निषिद्ध समय की आज्ञा की उपेक्षा करना विराधना कहलाती है। एक आज्ञा को जानते हुए भी विराधना करे, उस आज्ञा का उल्लंघन करे तो वह दूसरी आज्ञा का पाठन करते हुए भी आराधक नहीं परन्तु विराधक बनता है। अतः निषिद्ध समय में पढ़ने के लोभ से भी पढ़ने से आराधना नहीं होती। आराधक भाव मोक्षदायक है जबकि विराधक भाव समाख्यक है। या तो गुरु की आज्ञा की ओर ध्यान देना चाहिये। काल पर न पढ़ने और अकाल में पढ़ने में गुरु की विराधना होने के साथ ही श्रुत देखना ही भी न कर सकते हैं, जिसमें आत्म विराधना होती है न। आत्म विराधना भी सम्भव है। मदा प्रत्येक कार्य में जिसका जो पाप हो—हो पाप जो उस कार्य में कदापि हो सकता है। 'गुरु जैसा गुरु की आज्ञा में ही ही पढ़ना और उस भाग में। पढ़ना ही ही पढ़ना है' ऐसा प्रत्यक्ष, ऐसा तर्क, ऐसी प्रतीति नहीं

ग्लान साधु की सेवा में सेरी सेवा रही हुई है—इस आज्ञा को पढ़ने के राग में न भूलें :

निपिद्ध काल में स्वाध्याय करते हुए एक साधु को अहीर वनकर मार्ग दर्शन करने के एक प्रसंग का महापुरुषों ने वर्णन किया है। एक बार एक साधु काल ग्रहण करने के पश्चात् कालिक सूत्र का अध्ययन कर रहे थे। रात्री में भी प्रथम पोरिसी में मूल सूत्र का अध्ययन हो सकता है। स्वाध्याय के मोह में उन साधु को समय का ध्यान न रहने से अकाल हो जाने पर भी वे पाठ करने रहे।

साधुओं के लिये क्रियाएँ और उनका समय निश्चित है। साधुओं को अपनी सारी क्रियाएँ काल में करने हेतु प्रयत्नशील बनना चाहिये। मात्र क्रियाएँ करना—इतना ही लक्ष्य रखे, परन्तु काल में करना—यह लक्ष्य न रखे तो क्रियाएँ कष्ट में पड़नी हैं। अकाल में क्रिया करने से लोक निन्दा का पात्र भी बनने से शासन की निन्दा का भी संभवतः निमित्त बन सकता है। प्रत्येक क्रिया कतव्य काल में करने वाला ही वास्तविक पंडित है। जिन कल्पों की सारी क्रियाएँ काल में ही होती जाती हैं, क्योंकि उनका पूर्व का क्रियाभ्यास वैसा ही चुका है। उस प्रकार अप्रमत्त जीव का जीवित रहने का प्रयत्न जारी रहे तो प्रायः अकाल में पढ़ने का अवसर ही न आए। स्वाध्याय के समय में स्वाध्याय ही और अन्य क्रियाओं के समय अन्य क्रियाएँ ही। कई साधु पढ़ने में इतने अधिक मग्न हो जाते हैं कि भेरा अध्ययन विगडगा' ऐसा सोचकर वे वैयाकरण के समय में भी पढ़ना जारी रखकर वैयाकरण के लाभ में वर्तित रहते हैं। ऐसा करने वाले को प्रभु की आज्ञा का मन्ना प्राप्त नहीं होता मग्न इतना हित का दोष भी नहीं रहता। ऐसे साधु के दिने ग्लान मानु की सेवा की आवश्यकता के जानने के लिए प्रभु की आज्ञा है कि भेरी सेवा नष्ट करता है, जो ग्लान मानु की सेवा करता है, ग्लान मानु की सेवा न करने वाला, उसमें

शासन देवता ने मार्ग दर्शन किया :

स्वाध्याय करते करते उस महात्मा को अकाल हो गया—उसका पालन नहीं हुआ, परन्तु उस साधु की भविष्यता अच्छी थी ।

उस महात्मा को इस प्रकार अकाल में कालिक सूत्र का अध्ययन करते देखकर उस स्थान के निकट रहे हुए शासन देव ने सोचा कि 'इस साधु के साथ संभवतः कोई व्यतर छल करेगा ।' इससे उस साधु को व्यतर के छल से बचा लेने का उस शासन देव ने निर्णय किया ।



उसने सोचा कि उस महात्मा ने अकाल का ही मार्ग लिया ।
 * * * * *
 * * * * *

विनय धर्म का मूल है :

जिनके पास ज्ञान लेना हो, ज्ञान प्राप्त करना हो, उनके प्रति विनय का आचरण करने से आत्मा को खूब खूब अभ्यास करवाना चाहिये। विद्यादाता गुरु परम उपकारी है, अतः उनके चरणों में बार-बार झुकना चाहिये। विनय के बिना तो सामान्य



मन भी कटौत जाता है? दुनिया का व्यवहार भी विनय के बिना क्या चलता है? दुनिया में भी जिनके पास से या जिनके द्वारा कुछ प्राप्त करता हो, उसे सम्मान करनी पड़ती है न? किर्मी को मोड़ने के लिये तो उसे मारना, 'पानिचि' आदि मानसूरक शब्द निकालने से उसे मारना आदि करना है—ऐसा विनय करना है और निवेदन

लिया। उसके बाद उस व्यंतर देव ने भी अपने वचन के अनुसार एक स्तम्भ वाला महल और उसके चारों ओर उद्यान बना दिया।

श्री श्रेणिक तो उस महल को और उस उद्यान को देखकर खूब ही खुश हो गए। उन्होंने चेल्लणा देवी को उस नूतन प्रासाद में रखी। चेल्लणा भी तुष्ट हुई और अपने को मिली हुई नूतन सामग्री का उपयोग वह प्रभु भक्ति में तथा पति भक्ति में करने लगी। चेल्लणा स्वयं ही सर्व ऋतुओं के पुष्पों की मालाएं नित्य गूंथती थी और उन मालाओं से प्रभु की पूजा करती थी तथा पति के केशपाश मजाती थी।

धर्म की प्राप्त की हुई स्त्रिया प्रभुभक्ता और पति भक्ता हो इसमें आश्चर्य जैसा कुछ नहीं है। शीलगुण की स्वामिनिया जब धर्म वासित अन्तःकरण वाली बने, तब वे प्रभुभक्ति में लीन होने के साथ-साथ पति भक्ति का भी विकास करती है।

चेल्लणा इस प्रकार जब सुख विहार कर रही थी, तब ऐसी घटना हुई कि जिसका विनय नामक दूसरे ज्ञानाचार से सम्बन्ध है।

उस नगर में एक मातंगपति रहता था। मातंगपति तो समझें न? डेढ़ों का प्रधान। वह मानंगपति विद्यानिष्ठ था।

उस मातंगपति की पत्नी गर्भवती थी। उसे आश्रय प्राप्त करने का दोहद उत्पन्न हुआ।

वह ऋतु आश्रय की न थी, फिर भी उसे ऐसा दोहद उत्पन्न हुआ। वह जानती ही थी कि मेरे पति विद्यानिष्ठ हैं तथा वे पति पत्नी के उद्यान में हर समय आश्रय प्राप्त करते हैं, अतः मेरा दोहद पूर्ण रूप से बिना रहने वाला नहीं था। अपने अपने पति का अपने दोहद की बात करनी।

आश्चर्य पैदा करवाती है, वैसे ही उनकी पितृभक्ति भी आश्चर्य करवाती है, और उनकी आराधना की भावना भी आश्चर्य करवाती है। किसी से भी न ठगे जाए ऐसे वे वेश्या के धर्म छल से ठगे गये थे, यह भी उनकी धर्मशीलता का ही एक बड़े से बड़ा प्रतीक है। पिता की जिन जिन इच्छाओं की उन्होंने पूति की है, वे भी प्रायः ये ही पूरी कर सकते हैं- ऐसा कह सकते हैं।

पिता श्री श्रेणिक की आज्ञा सुनकर श्री अभयकुमार ने कहा कि 'उस चोर को थोड़े ही समय में उपस्थित करने का विश्वास दिलाता हूँ।'

इसके बाद अपनी इस प्रतिज्ञा को पूर्ण करने हेतु रात और दिन श्री अभयकुमार ने उस बगीचे के आस-पास तथा सारे ही नगर में परिभ्रमण करना शुरू किया, परन्तु कहीं भी चोर का पता न लगा। कहीं पर भी आम के छितके या गुटलिया भी दिराई नहीं दिये, क्योंकि वह मातंगपति मावधान था। उसे मातूम था कि राजा का कितना बड़ा अपराध वह कर चुका है और यदि पकड़ा जाए तो फिर वह अपनी पत्नी का मुँह देगने के लिए भी जीवित घर आ नहीं सकता।

श्री अभयकुमार द्वारा कथित कथा :

जब किसी प्रकार चोर पकड़ा नहीं गया, तब मुनिनिधान श्री अभयकुमार ने एक मुनि भगाई।

कुछ दिनों बाद नगर में एक स्थान पर नाट्य का आयोजन करवा दिया। उस नाटक में देगने के लिए और मुनने के लिये नगर में बहुत सी स्त्री-पुरुषों को एकत्रित किया। श्री अभयकुमार भी एक दिन उस स्थान पर गए।

क्योंकि मैं अभी कुंमारिका हूँ और इसलिए पुरुष के लिए अस्पृश्य हूँ।

माली ने तुरन्त ही उसे छोड़ तो दी, परन्तु छोड़ने से पूर्व उसके पास प्रतिज्ञा करवायी कि शादी के बाद वह सर्व प्रथम सभोग उस माली के साथ करे।

आपको ध्यान आएगा कि उस समय के व्यभिचारी पुरुष भी कन्याओं के शील का खडन तो नहीं करते होंगे। आज क्या होता है और कैसे होता है— यह कहने की आवश्यकता नहीं है।

माली से मुक्त होकर वह कन्या अपने घर गई। कुछ ही समय में किसी उत्तम जन के साथ उसका पाणिग्रहण हुआ। वह जब शादी करके प्रथम बार अपने पति के आवासगृह में गई, तब उसने अपने पति से कहा कि हे आर्य पुत्र ! मैंने एक माली से प्रतिज्ञा की है कि शादी के पश्चात् मेरे प्रथम सग उसके साथ करना। मैं उसके साथ वचनबद्ध हूँ, अतः यदि आप मुझे आज्ञा दे तो मैं एक बार उसके पास जा आऊँ। फिर तो सदा के लिए मैं आपके ही अधीन रहूँगी।

यह बात सुनकर उसका पति कुछ नहीं होता। वह तो निश्चित ही झो जाता है। वह सोचता है कि यह बात कैसी शुद्ध हृदय वाली है और अपनी प्रतिज्ञा ही कैसी पालन करने वाली है ? ऐसा सोचकर वह अपनी नवविवाहिता स्त्री को उसकी प्रतिज्ञा पूर्ण करने में अनुमति देता है।

सब यह बात पत्र में से निराकर उस माली के पास जान के दिन स्थाना नीती है। उनमें अनुमति वस्तु पहिन स्त्री है तथा आगे साधन भी प्राप्त कर में है। मार्ग में उसे यह विचार है। और कहा है कि यह स्त्री आनन्द उपाय कर प्रेम मोक्ष, अन्यथा यह प्रेम ही नहीं है।

प्रातः उस पुरुष ने उस स्त्री को अपने सर्वस्व की स्वामिनी बना दी।

इस प्रकार श्री अभयकुमार ने नगरजनो को कथा कह सुनाई। श्री अभयकुमार यहाँ न तो नाटक देखने आए थे न कथा कहने आए थे, परन्तु उन्होंने अपने पिता को जो वचन दिया था, उसकी पालन हो सके ऐसा कोई उपाय मिल जाए, तो उन्हें शांति हो इसलिए श्री अभयकुमार यहाँ आये थे। उन्होंने नगरजनो को जो यह कथा कह सुनाई थी, वह भी इसी हेतु की सिद्धि के लिए कही थी।

चोर को ढूँढ निकाला और पकड़ा

इसलिये कथा कह चुकने के बाद नगरजनो को संबोधित कर श्री अभयकुमार ने पूछा कि आपको मैंने जो कथा कही, उसमें किसने सबसे अधिक दुष्कर कार्य किया कहेगे? उस वाला के पति ने, चोरो ने, राक्षस ने या माली ने? आप सोचकर इस बात का उत्तर दे।

ऐसे प्रसंगों में, उत्तरदाता के हृदय का भुकाव उत्तर में कथित बात पर में जाना जा सकता है। नगरजनो में जो लोग ईर्ष्या वाले थे, अपनी पत्नी किसी के पास जाए ऐसा जो सहन नहीं कर सकते थे—ऐसे स्वभाव के जो लोग थे उन लोगों ने श्री अभयकुमार के प्रश्न के उत्तर में कहा कि इन लोगों में सबसे अधिक दुष्कर कार्य तो उनके पति ने किया ऐसा हँस कहेगे, क्योंकि अपनी नवविवाहिता पत्नी का अंग स्पर्श भी उन्होंने नहीं किया था, फिर भी उसे अन्य पुरुष के पास जाने दी।

नगरजनो में जो लोग ऐसे स्वभाव के थे कि जब स्वयं भूमे में पड़ जाते दिखावा करते जा तो भी नाग विरा रहें, नहीं उन्होंने श्री अभयकुमार के प्रश्न के उत्तर में कहा कि मर्द में अर्थात् दण्ड नहीं है जो स्वयं को रक्षित कर ही सके जायगा, क्योंकि यह क्षमता

हो सकती, तो फिर यह जो बड़ा ही शक्तिमान् चोर है, अतः इसकी उधेक्षा न कर, इसका निःसन्देह होकर निग्रह ही करना चाहिये ।

उस समय श्री अभयकुमार ने-श्री श्रेणिक महाराजा को निवेदन किया कि 'पहले तो आप इसके पास जो विद्या है, उसे गहरा कर ले, और तत्पश्चात् आप को जैसा उचित लगे वैसा करे ।'

श्री श्रेणिक को श्री अभयकुमार का निवेदन उचित लगा अतः राजा ने उस मातंगपति को अपने पास बिठाया और उसे जो विद्या आती थी, उसे बोलने के लिये कहा ।

मातंगपति ने अपनी विद्या बोलकर देना शुरू किया, परन्तु राजा के हृदय में वह धर न कर सकी। बार बार दुहराने पर भी राजा के हृदय में विद्या स्थिर न हो सकी, क्योंकि राजा सिंहासन पर बैठे थे और विद्यादाता मातंगपति नीचे बैठा था । इस प्रकार बैठने से विद्यादाता का अविनय होने से विद्या का राजा के हृदय में स्थिर न हो सकना स्वाभाविक है ।

परन्तु श्री श्रेणिक को तो ऐसा ही लगा कि यह मातंगपति ही कुछ घेतानी करता है । अतः उसका तिरस्कार करते हुए श्री श्रेणिक ने उसे कहा कि तुझ में कुछ कष्टभाव है और इसीलिये तेरे द्वारा कथित विद्या मेरे हृदय में समाहित नहीं हो सकती ।

तब बुद्धिनिधान श्री अभयकुमार ने कहा कि 'हे देव ! इस समय तो यह आपका विलाप है और जो गुरु का विनय करते हैं उन्हें ही विद्या प्राप्त होती है । गुरु का अविनय करने वाले में विद्या प्राप्त नहीं होती । अब आप अपने सिंहासन पर उभरे बैठें और आप उभरे पर इसके सामने हाथ जोड़कर बैठें । ऐसा करने से आप को सबपर विद्या प्राप्त होगी ।

श्री श्रेणिक भी समझदार थे । चुपचाप ही । इस बात को

आदि ज्ञानोपकरण का विनय कहलाता है। आज ज्ञानोपकरण की अवज्ञा तो बहुत बढ़ती जा रही है, ऐसा भी कहे तो चलेगा। पेन, पेन्सिल मुँह में डालने से ज्ञान की अवज्ञा होती है। कागज यदि पावो के नीचे आएँ, इसमें भी ज्ञान की अवज्ञा है। आज समाचारपत्रों द्वारा तो ज्ञान की गजब की ही अवज्ञा हो रही है। कई अज्ञान और मूर्ख स्त्रियाँ बच्चों का मल उठाने और फेंकने में समाचारपत्रों का उपयोग करती हैं। स्वरूप में मिथ्या भी श्रुत के कागज, पुस्तक आदि पर पांव नहीं रखा जा सकता। न इनके थूक लगाया जा सकता है। ज्ञान की अवज्ञा की तो कितनी चर्चा करे ? आज तो बूढ़ और चप्पलों के नीचे भी अक्षर होते हैं और आप लोग उन्हें पाँवों में पहिनकर उन अक्षरों को जमीन पर घिसते हैं। आजकल सड़कों पर भी लोगों की निम्बने की आदत बढ़ गई है और इसमें भी ज्ञान की बड़ी अवज्ञा होती है। इस प्रकार ज्ञान की अवज्ञा करने वालों का शिक्षण भयंकर सिद्ध हो, इसमें आश्चर्य नहीं।

बहुमान नामक तीसरा ज्ञानाचार :

बहुमान नामक तीसरा ज्ञानाचार है। विनय को दूसरा ज्ञानाचार बताने के बाद भी तीसरा ज्ञानाचार बहुमान बताया है— इसमें घबराहने जैसी बात नहीं है। विनय और बहुमान के स्वरूप को समझो। विनय वात्सल्य सम्मानादि है, जब कि बहुमान आन्तरिक सम्मानादि है। विनय में गुण बढ़त है, परन्तु यदि विनय हों और बहुमान न हो, तो विनय निर्जीव मुर्दे के समान है। मत्त रत्न घर में नाश रत्न मारा तो, मान रत्न मारा तो, गण रत्न प्लास हो, रत्न रत्न कंजस हो, पानी रत्न सरोवर हो, प्रतिमा रत्न मंदिर हो सोर मत्त मत्ति रत्न टार हो तो नष्ट घर, भुग, मान, पण, कंजस, सरोवर मंदिर तोर टार तोभा पाना है क्या ? नहीं। इसी प्रकार विनय और बहुमान रत्न तोभा पाना, मत्त नहीं होता।

की चिन्ता सतत बनी रहती है और कैसे उनकी इच्छापूर्ति की जा सकती है इसका चिन्तन भी रहता है। उनकी इच्छा के विरुद्ध तो चलने की इच्छा स्वप्न में भी नहीं होनी, परन्तु उनकी एक एक इच्छा को सन्तुष्ट करने का मन हुआ करता है। बहुमान का यह प्रथम लक्षण है।

बहुमान का दूसरा लक्षण यह है कि जिसके प्रति बहुमान हो, उसके दोष देखने का मन नहीं होता, दोष दिख भी जाय, तब भी उन दोषों को हृदय महत्व नहीं देता, परन्तु उन्हें भूल जाता है, और उसके दोषों को ढकने की सतर्कता रखता है। कोई उसके दोष जान न सके, इस बात की सावधानी रखता है। कोई उसके दोषों की बात करे, तो उसे यथाशक्ति रोकता है उसके गुणों की और देखने की बात कहता है। इन गुणों के सामने इन दोषों की कोई कीमत नहीं ऐसा भी कहता है, ये दोष भले ही दोष रूप लगते हों, परन्तु बन्धुत इसके लिए ये दोष रूप हैं या नहीं यह विचारणीय है ऐसा भी कहता है, और दोषों के कथन को रोकने का सामर्थ्य न हो तो मन में दुःख का अनुभव कर ऐसा खिसक जाता है कि जिसमें दोषों की बात कान में न पड़े। जिसके प्रति बहुमान होता है, उसके लिये हृदय में ऐसा भाव भी उत्पन्न हुए बिना रहता नहीं।

बहुमान का तीसरा लक्षण यह है कि जिसके प्रति बहुमान होता है, उसके अभ्युदय का अहर्निश चिन्तन रहा करता है। उसके दोषों का जैसे आन्ध्रादत्त करना है, वैसे ही उसके दोष कैसे नष्ट हों और उसके गुणों में कैसे वृद्धि हो, इस बात का विचार भी उसके मन में उत्पन्न होता रहता है। जैसे उसके आभ्यन्तर अभ्युदय की भावना रहा करती है, वैसे ही उसके बाह्य अभ्युदय की भावना भी रहती है। कोई यदि उसकी प्रशंसा करता है, तो वह उसे बहुत प्रिय लगता है। उसकी निन्दा के प्रति जोगा तिरस्कार होता है, वैराग्य ही उसकी प्रशंसा के प्रति उसका मद्भाव होता है। स्वयं उसकी प्रशंसा करता है और दूसरा भी प्रशंसित उसकी प्रशंसा में भाग लेता है।

काँशतः स्वार्थी है अतः कदाचित् आपको इस चीज का सही ख्याल तुरन्त न आ सके, परन्तु आप यदि किसी के प्रति निस्वार्थ प्रीति वाले अथवा पूर्वभव के ऋणानुबंधी स्नेह वाले होगे, तो उसका विचार करने पर आपको इस-वस्तु का बड़ी सरलता से ख्याल आ सकेगा। उसकी इच्छाएं फलित हो, उसके दोष ढँके और उसका अभ्युदय कैसे हो, ऐसा मन में हुआ ही करे तथा उसकी दुर्दशा से अत्यन्त दुःखित हुआ जाए और उसके अभ्युदय से अत्यन्त-प्रसन्न हुआ जाय-ऐसा भी हो ही। यह सब करना पड़े नहीं, परन्तु हो ही जाए। अर्थात् गुर्वादि के प्रति भक्तिपूर्ण प्रीति को उत्पन्न करने का प्रयत्न जारी ही रखना चाहिये।

बहुमान में बहुत बड़ी बाधा आ गई है :

इस बात को आप वर्तमान वातावरण के साथ जरा तुलना कर देखे। आज बहुमान का कितना अधिक नाश हो चुका है? आपके ससार में, आपके माता-पितादि बड़ों के प्रति आपके हृदय में इन प्रकार का बहुमान है क्या? प्रायः नहीं है। इसी प्रकार देव-गुरु धर्म के प्रति आपके हृदय में बहुमान है क्या? आज बात बात में माधु-माध्वियों के छिद्र देते जाते हैं, दोषों पर प्रकाश डाला जाता है, छोटे दोषों को बड़े करके अपमान किया जाता है, यहाँ तक कि न होने पर भी दोषों का आरोपण किया जाता है तथा उनके अभ्युदय की ओर दुर्नदश किया जाता है। ये आदि बहुमान का अभाव बताते हैं। सही बात तो यह है कि देव के प्रति सच्चा समझपूर्वक बहुमान नहीं, समझीये देव द्वारा कर्मों धर्म के प्रति भी बहुमान नहीं और इसीलिए माधु-माध्वियों के प्रति भी बहुमान नहीं। आज अभी यह देव गुरु धर्म के विनाश की प्रियाएँ कई घण्टों में चल रही हैं, यही हमें भी साफ़ी स्पष्टता आ गई है, परन्तु देव-गुरु-धर्म के प्रति बहुमान में तो बहुत ही बड़ी बाधा आ गई है। वही हमें यह स्पष्टता मिलेगी कि देव गुरु धर्म के प्रति सच्चा समझपूर्वक बहुमान ही सही है, तभी हमें देव गुरु धर्म के प्रति सच्चा समझपूर्वक बहुमान मिलेगा।

इसकी तो कोई विशेष कीमत ही नहीं, जबकि विनय और बहुमान दोनों का अभाव-सर्वथा निरर्थक ही है।

बहुमान से एकान्त रूप में कल्याण :

विनय है शारीरिक क्रिया विशेष, जबकि बहुमान है आन्तरिक भाव विशेष। शारीरिक क्रियाविशेष तो दिखाने के रूप में भी होता है, क्योंकि यह बाहर दिखाया जाता है, अर्थात् बहुमान रहित भी विनय हो सकता है। विनय हो वहाँ बहुमान हो भी सकता है, न भी हो सकता है, जबकि बहुमान हो तो शक्ति समझ सामग्री के अभाव में ही विनय न हो, परन्तु इसके अलावा तो अवश्य विनय होगा, क्योंकि जिसके प्रति बहुमान है, हृदय का आकर्षण है, वह शक्य हो तो विनय द्वारा प्रदर्शित हुए बिना रह नहीं सकता। वास्तविक रूप से बहुमान ही कल्याण करता है। विनय यदि बहुमानपूर्वक हो, तो वह विशेष कल्याणकारी होता है। बहुमान रहित विनय तो दम्बरूपी भी होता है। स्वार्थ साधना के लिये भी होता है। उसकी कोई कीमत नहीं माँगी जा सकती। यह तो विनयगुण का व्यभिचार मात्र है। ऐसे विनय से तो उठटा माध्वधान रहना पड़ता है। श्री उदायन राजा का घात करने वाले ने मुनिवेश में कैसा विनय दिखाया था? विनयरत्न ऐसे नाम का वह अधिकारी बना था। परन्तु यह सब मात्र गुन करने का अवसर ढूँढने के लिए ही था। विनय तो साधारण कार्यसिद्धि के साधन भी दिया जाता है। अन्यायी अत्याचारी राजा या अधिकारी को उनके प्रति जरा भी प्रेम न होने पर भी नमस्कार करना पड़ता है न? यह भी विनय है, फिर भी करना पड़े ऐसा विनय है, यह विनय, सामने वाले को बेत-केत प्रसन्न करने का विनय। यह विनय है पर हृदय में बहुमान नहीं है। विनय स्वार्थ हो भी जाता है, जबकि बहुमान परमात्मा से भी होता है। विनय में ५ गुण पाये जाते हैं, विनय प्रेम का मूल है, परन्तु बहुमानपूर्वक

इसकी तो कोई विशेष कीमत ही नहीं, जबकि विनय और बहुमान दोनों का अभाव-सर्वथा निरर्थक ही है।

बहुमान से एकान्त रूप में कल्याण :

विनय है शारीरिक क्रिया विशेष, जबकि बहुमान है आन्तरिक भाव विशेष। शारीरिक क्रियाविशेष तो दिखाने के रूप में भी होता है, क्योंकि यह बाहर दिखाया जाता है, अर्थात् बहुमान रहित भी विनय हो सकता है। विनय हो वहाँ बहुमान हो भी सकता है, न भी हो सकता है, जबकि बहुमान हो तो शक्ति समझ सामग्री के अभाव में ही विनय न हो, परन्तु इसके अलावा तो अवश्य विनय होगा, क्योंकि जिसके प्रति बहुमान है, हृदय का आकर्षण है, वह शक्य हो तो विनय द्वारा प्रदर्शित हुए बिना रह नहीं सकता। वास्तविक रूप से बहुमान ही कल्याण करता है। विनय यदि बहुमानपूर्वक हो, तो वह विशेष कल्याणकारी होता है। बहुमान रहित विनय तो दम्भी भी होता है। स्वार्थ साधना के लिये भी होता है। उसकी कोई कीमत नहीं आँकी जा सकती। यह तो विनयगुण का व्यभिचार मात्र है। ऐसे विनय से तो उल्टा नाशधान रहना पड़ता है। श्री उदायन राजा का घात करने वाले ने मुनिवेश में कैसा विनय दिखाया था? विनयरत्न ऐसे नाम का वह अनिकारी बना था। परन्तु यह सब मात्र मूल करने का अग्रसर हूँ के लिए ही था। विनय तो सामाजिक कायसिद्धि के मार्ग ही भी किया जाना है। अन्यायी अत्याचारी राजा या क्षत्रिणी को उनके प्रति जरा भी प्रेम न होने पर भी नमस्कार करना पड़ता है न? यह भी विनय है, फिर भी करना पड़े ऐसा विनय है, यह विनय, सामने वाले को येन-केन प्रसन्न करने का विनय। यह विनय है पर हृदय में बहुमान नहीं है। विनय स्वार्थ ही भी होता है, जबकि बहुमान परमात्म में भी होना है। विनय में स्वार्थ पाया जाता है, विनय धर्म का मूल है, परन्तु बहुमानपूर्वक

बढ़िया से बढ़िया प्रकार से फलित होती है जब कि वही विद्या दूसरे में उस प्रकार से फलित नहीं होती। इसका कारण यही था कि एक में जो विनय था वह बहुमान पूर्वक था और दूसरे में जो विनय था वह बहुमान विहीन था। ऐसे अभिप्राय को लक्ष्य रखकर और ऐसा अभिप्राय होने पर, विनयवान् होते हुए भी जो बहुमानविहीन हो, वे बहुमानपूर्वक विनयवान् बने—ऐसी आशा रखकर यह उदाहरण दिया जा रहा है। आपको भी यह उदाहरण इसी हेतु को लक्ष्य में रखकर सुनना है। इसलिए उदाहरण के हेतु का वर्णन यहाँ पहिले किया गया है।

विद्यागुरु के बहुमान के संबंध में उदाहरण :

एक सिद्ध पुरुष के पास दो विद्यार्थी अभ्यास करते थे। ये दोनों विद्यार्थी विनय का आचरण करने में निपुण थे, परन्तु एक अपने विद्यादाता गुरु के प्रति बहुमान भाव से विनय का आचरण करना था, जबकि दूसरा केवल छड़ी का अनुसरण कर ही विनय का आचरण करता था। दूसरे के हृदय में विद्यादान के प्रति बहुमान का भाव न था।

इन दोनों विद्यार्थियों को उस सिद्ध पुरुष ने अष्टांग निमित्त शास्त्र पढ़ाया और अष्टांग निमित्त शास्त्र में वे दोनों निपुण हो गए।

एक दिन किसी कार्य विशेष का अवलोकन कर वे दोनों ही एक साथ बाहर गए। मार्ग में जाते-जाते मार्ग में पड़े हुए पद-निम्नो को देकर दूसरे विद्यार्थी ने पहिले विद्यार्थी ने कहा कि आगे राखी जाता है।

उसके अनुमान को गृह्यकर पहिले विद्यार्थी ने कहा कि हाथी नहीं जाना परन्तु भाली जाती है। यह श्रुति बौद्धि और मे कानी है। इस श्रुति पर रक्षा-वृत्त में है। इनमें जो रक्षी है उम्मे

बहुमान के बिना भी वह विनयाचार का पालन करने के लिये अभ्यस्त है इसी का यह परिणाम है। उसमें यदि बहुमान का भाव होता तो कितना अच्छा होता।

उसने जो कहा उसे सुनकर गुरु को आश्चर्य होता है क्योंकि पाप का भाव उसमें है, न कि गुरु में। ऐसा-ऐसा उसने कह डाला फिर भी गुरु पूछता है कि 'तू ऐसा क्यों बोलता है? मैंने तो विद्या देने में या आम्नायादि देने में किसी भी स्थल पर किसी प्रकार किसी को नहीं ठगा।'।

गुरु ने विल्कुल सच्ची बात सीधी रीति से कही, इससे शान्त होने के बजाय यह बहुमान रहित शिष्य अधिक क्रुद्ध होकर बोला— 'उस तुम्हारे प्रिय शिष्य ने मार्ग में हथिनी आदि जो कुछ कहा वह नाग नृत्य सिद्ध हुआ और मेरा तो कुछ भी सत्य न निकला, तो उनमें आपके पढ़ाने में ही गड़बड़ है या नहीं। यदि आपने समान रूप में पढ़ाया होता तो दोनों का कथन सच्चा निकलता। यह तो इसका कहना सत्य निश्चय हुआ अतः इसका सम्मान हुआ और मेरा कथन मिथ्या निकला अतः मेरा अपमान हुआ। तब इतने वर्षों तक गिर गाने वाला परिश्रम करके मैं तो मग्नींग्या और अन्त में मुझे तो गद्दी पत्र मिला न ? कहिये उनमें अपराध आपका नहीं तो किस का ?

इस प्रकार उन विद्यार्थी ने अपने विद्या गुरु को बहुत नरत और खनन किये, जिससे बिना गुरु की मना कि यह मुझे व्यर्थ परेशान करेगा अतः इसके समक्ष ही स्वकीकरण हो जाय तो अत्यन्त-तेजा सम्मान कर उन विद्या गुरु से गुरुत्व ही उन विद्यार्थी को बुलाया और उसे गुरु रि 'तुने मार्ग में हथिनी आदि जो कुछ कहा वह मिथ्या कहना ही है। तब मुझे भविष्यत् का ज्ञान मिला।'।

प्रथम शिष्य की ऐसी अनुपम बुद्धि प्रतिभा को देखकर विद्या-गुरु सिद्ध पुत्र बड़े ही प्रसन्न हुए । फिर उन्होंने उस दूसरे शिष्य से कहा— 'तू बता कि इसमें मेरा दोष है क्या ? क्या मैंने इसे कोई विशेष विद्या दी है क्या ? सही बात तो यह है कि तू मेरा विविध प्रकार से विनय करता था, परन्तु तेरे हृदय में मेरे प्रति बहुमान नहीं था । मे सभी विद्याएं तो बहुमान गर्भित विनय चाहती है । तेरे साथ ही अध्ययन करते हुए इस बुद्धिमान शिष्य के हृदय में मेरे प्रति अच्छी तरह बहुमान था । इसमें स्वाभाविक वैयक्तिकी बुद्धि भी है । यह बुद्धि भी सम्यक् प्रकार के बहुमान से गर्भित ऐसे विनय से ही बहुत स्फूर्ति होती है । अब तू ही बता कि इसने जैसा निरीक्षण किया और जैसी विचारणा की वैसा निरीक्षण तथा वैसी विचारणा तू नहीं कर सका तो इसमें मेरा क्या दोष है ?

विद्या गुरु सिद्धपुरुष ने जब इस प्रकार उसे समझाने का प्रयत्न किया, तब वह शिष्य तो और अधिक क्रोध हुआ । विद्यागुरु ने मन्ची मन्ची कमी बताई तब भी वह बात उससे सहन न हुई । उसने तो अति क्रोधानुर होकर पढ़ने की पुस्तक को पटकते हुए कहा कि नहीं तुम्हारा कोई दोष नहीं, दोष तो मेरा ही है ।'

राम प्रसार कहकर वह वहाँ से तुरन्त ही अपने गाव जाने के लिए रवाना हो गया । अपने गाव वह अपनी नव-विवाहित पत्नी को छोड़कर पढ़ने के लिए चला गया था । नवविवाहिता को छोड़कर पढ़ने में वहाँ तक समय बिताने के बाद भी उसकी विद्या सफा न हुई । रामप्रसार उसने घर जाकर अपनी पत्नी पर क्रोध बरसाया । उस बच्चे की कुछ पिछाई भी और उसे गृह मानिया दी । उसकी कारण से वह शरीर दण्ड गया कि पाठ ! तेरे पाठ के कारण, तेरे स्मरण के कारण विद्या बर्बाद रही ।'

किया। वाते करते करते वह नित्य भील को उसकी कुशलतादि पूछता था।

एक दिन उस ब्राह्मण ने भील के साथ बातें करती हुई शिव मूर्ति देखी। इससे वह क्रुद्ध हुआ और उसने शिव को उपालम्भ देते हुए कहा- 'आप नीच के साथ इस प्रकार वाते करते हैं, अतः आप भी नीच हैं।'

व्यंतर ने शिवमूर्ति उत्तर देती हो, इस प्रकार बताया कि इसका मेरे प्रति प्रतिशय दृढ अनुराग है। कल प्रातः तू वह देख सकेगा।'



ब्राह्मण ने उस दिन उपेक्षा कम लमा गया। हमारे दिन जब वह भील पर उपेक्षा पूर्ण। हा एक शत्रु उगड़ा उगरे देगा। हम पर

है कि जो विनयाचार है वह बहुमान पूर्वक होना चाहिये। बहुमान हो और विनयाचार न हो तो समझे कि समझ, शक्ति सामग्री आदि की कोई ऐसी कमी है जिसके कारण विनयाचार नहीं, वरना ऐसा बहुमान वाला विनयाचार किये बिना रहे नहीं। अनुतर-वासी देव वह समझदार होते हैं। वे सदा तत्त्व स्वरूप की विचारणा में रमण करने वाले होते हैं। फिर भी वे भगवान के कल्याणादि के उत्सवादि में, उपदेश में या अन्य कही नहीं जाते। इससे क्या यह मान ले कि 'उनके हृदय में भगवान और भगवान द्वारा कथित मार्ग के प्रति श्रद्धा नहीं है?' नहीं। ऐसी बात नहीं है। उन देवों की स्थिति ही ऐसी होती है कि वे सदा सुख शय्या में सोए रहते हैं। भगवान और भगवान के मार्ग के प्रति तो उनके हृदय में भारी बहुमान होता है। बहुमान के इस वर्णन से विनयाचार की उपेक्षा करने की बात नहीं कही जा रही है विनयाचार की जो उपेक्षा करता है और उसका बहुमान के नाम पर जो वचाव करता है, वह तो बहुमान से रहित है— इतना ही नहीं, परन्तु वैसे लोग सही अर्थ में तो मार्ग का अपमान करने वाले हैं। ऐसे दया वाले तो दुर्लभ बोधि बनकर संसार में भटकते ही रहते हैं।

श्री उपधान तप :

चौथा ज्ञानाचार उपधान है। 'उप' अर्थात् गुरु के समीप रह कर 'धान' अर्थात् विधि पूर्वक तपश्चरणा का आचरण करके श्रुत को धारण करना। अर्थात् विधि पूर्वक तपश्चरणा का आचरण करने के गुरु गुरु के समीप रह कर गुरु द्वारा श्रुत को धारण करना चाहिये। इसके तप की गतिशक्ति होने से इसे उपधान तप के नाम से परिचित किया है। श्री नन्दार मन्त्रादि श्रुत के आराधन और श्रुत निमित्त मुखावक और मुखाविकाएं जो उपधान तप करते

ही है, वास्तविक ज्ञानी नहीं । आज सम्यक् श्रुत का वर्तमान की अपेक्षा ठीक-ठीक परिणाम में गिना जाए ऐसा ज्ञान रखने वाले भी पीढ़ीगतिक उन्नति में मग्न हो रहे हैं, अनाचारो के मार्ग पर बढ़े जा रहे हैं, पवित्र विचारो का त्याग कर, अनाचारो का सेवन करने के साथ-साथ ऐसा करने में दोष नहीं-ऐसा मनवा रहे हैं, उपकार मनवा रहे हैं-इससे लगता है कि उनमें ज्ञान विपरीत रूप में परिणित हुआ है । ज्ञान तो अनाचार के विचार मात्र से भी आघात पहुँचाए और प्रतिचार का भी डर पैदा करता है । इस दृष्टि से देखें तो आपको लगेगा कि ऐसे लोगों का ज्ञान फलित तो नहीं हुआ, परन्तु फट निकला है । ज्ञान की प्रशंसा मोक्ष के कारण की लेकर ही है और मोक्ष की ओर जिनकी दृष्टि न हो उसका ज्ञान सफल नहीं होता । मोक्ष के अर्थोपन को पैदा करने वाली वृत्ति भी ज्ञान से यदि प्रकट न हो, तो उस ज्ञान में आशिक भी प्रशंसा पावता नहीं रहती । ज्ञान यदि कम हो परन्तु मोक्ष का अर्थ लिये हो तभी वह उन्नतिकारक बन सकता है, और ज्ञान के रूप में गिना जाने के योग्य तो सम्यग्दर्शन गुण के प्रकटीकरण के पश्चात् ही बनता है । ऐसे सम्यग्ज्ञान वाले भ्रमावधानी से भी गुरु का नाम छिपाने का, अन्य का नाम देने का अधिक कम पहले हुए कहने का पाप मिर पर न आ जाए इस बात की मायधानी रखने वाले होते हैं ।

व्यंजन नामक ज्ञानाचार :

व्यंजन नामक छटा ज्ञानाचार है । व्यंजन शब्द के अनेक अर्थ होते हैं परन्तु यहाँ व्यंजन का अर्थ 'प्रकार' ग्रहण किया जाए, और 'प्र' यदि मार नया 'ह' आदि व्यंजन-इन दोनों अर्थों का उपयोग समावेश करना है । यहाँ में एक भी व्यंजन का हेतु-फल नहीं होता । परन्तु एक भी व्यंजन का हेतु फल ही जाए, तो उसमें स्वयं में हेतु फल में आता है । व्यंजन ही व्यंजनी । एक व्यंजन

कुणाल को ही देगा, जबकि उसकी स्वयं की इच्छा थी कि राज्य अपने पुत्र को मिले। इसलिये वह रानी कुमार कुणाल के अनिष्ट का ही अवसर ढूँढती रहती थी।



रानी ने वहाँ आकर वह पत्र हाथ में आया और पढ़ा। उसे विचार आया कि 'एक तो कुणाल बड़ा ही रूपवान है और दूसरा इस प्रकार यह पढ़ेगा तब ही राजा उसे ही राज्य देगा।' रानी को अपना राजा ही ईनाम मिलेगा कहती हुई गयी। इसमें ईर्ष्या के विषयों का वह और भ्रम हो गई। भक्तिव्यथा योग में उसे अपनी इच्छा को मानने की बुद्धि भी भ्रम गई। उसने सोचा कि 'राजा ने इस पत्र में कुणाल का पढ़ाने का निर्णय देते हेतु तो 'अयोध्या', पढ़ाया है। उस पत्र में 'य' अक्षर पर ही यदि मैं नाम लिख दूँ तो

पालन न करके कालक्षेप करना चाहिये। तीन बार आदेश आने की अपेक्षा तक उसकी मर्यादा है। क्षण का विलम्ब करने से प्रहर मिलता है, प्रहर का विलम्ब करने से दिन मिलता है और दिन का विलम्ब करने से विशेष काल मिलता है। इस प्रकार कालक्षेप करना उचित



है। परन्तु कुणात् के लिए अपने पूर्व भव के कृत कर्म इस प्रकार भुगवने का भावि निमित्त हुआ होगा, अतः कुणात् ने काश्चेष न करने साठन किया।

व्याकरण पढ़ने की आवश्यकता :

अपनी बात है अक्षर के पढ़ाने बटाने से होने वाले अक्षर की 'अपीयताम्' के स्थान पर 'अपीयताम्' होने में कुणात् की ग्रंथ

सनातनी आगेवान पंडित का नाम देवीदास शर्मा था, इन्होंने उमने कहा कि 'देवीदास सरमा ! सुनो ।'

'शर्मा तो गोत्र था जबकि 'सरमा' का अर्थ कुतिया होता है इसलिये देवीदास शर्मा एकदम आवेश में आ गए । सनातनियों ने आर्य समाजिस्ट पण्डित ने हमारे पंडित को 'कुतिया' कहा—ऐसा मानकर उपद्रव किया ।

अतः व्याकरण के अध्ययन की भी परम आवश्यकता है जिससे कौनसा शब्द किस वर्ण का है इसका ध्यान रहे और अक्षर भेद में कैसा अर्थ भेद हो जाता है वह भी सनभ में आ जाए ।

अक्षर बदलने पर अर्थ भी

बदल जाता है :

जहाँ अक्षर फिरा कि अर्थ भी फिर जाता है, मूल और अर्थ दोनों बदल जाते हैं अतः व्यंजन रूपी श्रुतोपचार भी बराबर निभाना चाहिये । प्रतिक्रमण के सूत्र प्रायः अशुद्ध होते जाते हैं । उसमें कोई कोई तो वर्ण भेद वाला उच्चारण करते हैं । मगधों मगधना चाहिये कि मच्छा लाभ शुद्ध बोलने में ही है । मन्त्राक्षर जैसे सूत्रों को मगध नौतने में कैसी हानि होती है, उसे आप नहीं मगध मानें । गाजरकल पाठशालाओं में भी शुद्ध उच्चारण में पड़ने की आशंका नहीं दिना जना, उम्मी प्रचार आजकल पन प्रविष्टमार्गि मगधों की जो मगधों मगधों है, उनमें तर्हि तो अशुद्धियों के भण्डार जैसी मगधों मगध करने हैं । आप को पता नहीं होगा कि एक प्रकार मगधों मगधों मगधों में मगधों का मगध मगध होगा । जान की अमगध करने मगधों तो मगध मगध मगधों है मगध मगध मगध मगधों है ।

आठवां ज्ञानाचार :

आठवा ज्ञानाचार 'सूत्र' और 'अर्थ' दोनों से सम्बन्धित है। छठे और सातवें ज्ञानाचार का आचरण करने में सावधान बने हुए इस आठवें ज्ञानाचार का तो स्वाभाविक रूप से ही आचरण करने वाले बन जाते हैं। यदि ऐसा है तो ज्ञानीजनों ने इस ज्ञानाचार को अलग क्यों कहा? ऐसा प्रश्न उपस्थित हो सकता है। ऐसे प्रश्न का समाधान यह है कि कई ऐसे होते हैं जो मात्र सूत्र को ही लांघते हैं, कई ऐसे होते हैं जो सूत्र तथा अर्थ दोनों को ही लांघते हैं। जो सूत्र बोले, वह अशुद्ध बोलते हैं तथा जो अर्थ करते हैं वह भी गलत करते हैं। ऐसे को बचाने के लिये यह आठवा आचार है। सूत्र और अर्थ दोनों का शक्ति सामग्री के अनुसार और योग्यतानुसार ज्ञान संपादन करने का प्रयत्न करना चाहिये।

ये आठों ही आचार शोभा भी

बढ़ाते हैं और श्रयोभागी

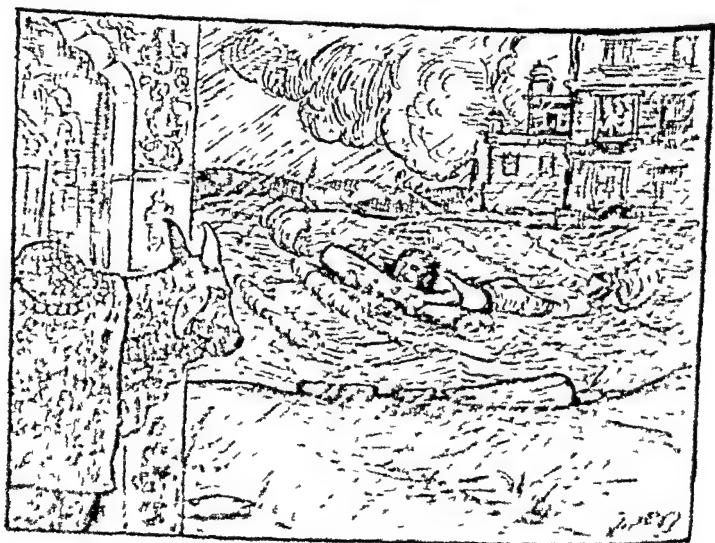
बनते हैं।

इस प्रकार हम आठों ही ज्ञानाचारों के सम्बन्ध में काफी विचारणा कर आए हैं। यह श्री भगवतीजी सूत्र इन आठों प्रकार के ज्ञानाचारों में परिवृत्त है। ये आठों आचार 'प्रवचनोपचार' के नाम से परिचित करवाए गए हैं, अर्थात् इन आठ आचारों के पालन में प्रवचन की भक्ति गठी हुई है। इसलिये इन आठ आचारों को टीकाकार मरणि ने 'चार' बनाया है। 'चार' अर्थात् सुन्दर मनोहर। वास्तव में ज्ञान के ये आठ आचार बड़े ही सुन्दर और मनोहर हैं। इन आठ आचारों में ज्ञान और ज्ञानीजन का प्रयत्न दीप्त हो जाता है। ज्ञान की और ज्ञानाध्ययन की नया ज्ञान दान को भी दीप्त करने वाले और उसे गलतप्रा की पराकाष्ठा पर पहुँचाने वाले हैं।

है। यह काटना, देना और स्थापित करना आशिक रूप में होने से ही इस श्री भगवतीजी सूत्र को जयकुंजर की उपमा दी गई है। आत्म-विजय के लिये, यह सूत्र लोकोत्तर ही है।

उत्सर्ग और अपवाद रूपी घण्टायुगल का धोष :

टीकाकार महर्षि ने जयकुंजर के साथ तुलना करते हुए इस श्री भगवतीजी सूत्र को दिए हुए विशेषणों में से अठारह



विशेषणों को तो हम ऐसा मानते हैं। अब उन्नीसवें विशेषण के रूप में टीकाकार महर्षि कहते हैं कि—

“उत्सर्गादिमाद्यपि ननु घण्टायुगलधोषम्।”

अर्थात् जयकुंजर सूत्र की जैसी मायामें स्वयं में उद्भवते श्री

परन्तु विराधना है। इसी प्रकार अपवाद के स्थान पर उत्सर्ग के सेवन में आराधना नहीं परन्तु विराधना है। अतः उत्सर्ग का स्थान कौनसा और अपवाद का स्थान कौनसा— इसका निर्णय करने में भारी कुशलता की आवश्यकता रहती है। मार्ग का सुन्दर ज्ञान चाहिये, तथा सूक्ष्म बुद्धि भी चाहिये।

व्याख्याता उत्सर्ग—अपवाद का ज्ञाता होना चाहिये :

इनलिये तो उत्सर्ग मार्ग और अपवाद मार्ग के ज्ञाता नहीं बने हुए साधुओं के लिए भी व्याख्यान करने का निषेध किया गया है। दोनों मार्गों का ज्ञान न हो, तो उत्सर्ग मार्ग का ऐसा मडन कर बैठे कि जिसमें श्रोताओं को अपवाद मार्ग मानो पाप मार्ग ही है— ऐसा आभास हो जाए अथवा अपवाद मार्ग का ऐसा मडन करे कि जिसमें श्रोताओं को उत्सर्ग के प्रति जो दृढ़ प्रीति उत्पन्न होनी चाहिये वह दृढ़ प्रीति उत्पन्न नहीं हो पाती और उनका मन अपवादों का सेवन करने में और ललनाया करता है। व्याख्याता यदि दोनों प्रकार के मार्गों का यथावत ज्ञाता हो तो उसे वैसे अनर्थ उत्पन्न नहीं हो सकता।

उत्सर्ग मार्ग और अपवाद मार्ग किसे कहते हैं :

उत्सर्ग किसे कहते हैं? स्तनत्रयी की आराधना का मार्ग— नातान्य जो विधि मार्ग है उसे उत्सर्ग कहते हैं। तब अपवाद मार्ग किसे कहते हैं? स्तनत्रयी की आराधना के मार्ग नामान्वय विधि मार्ग— उत्सर्ग मार्ग पर जो दृष्टि साधुओं को विशेष समीप उपस्थित होने पर ही अपनी प्रविष्टि में आये नहीं जाय, मार्ग से च्युत न हो जाय, उस प्रकार की नामान्वय विधि मार्ग से अथवा अनर्थ उत्पन्न न हो— निरर्थक प्रत्यय या भी विदा प्रत्यय कर उन्हे मार्ग नामान्वय विधि मार्ग से आराधना प्रदान करने या जो मार्ग है उस प्रकार

जाए— ऐसा भी संभव है न ? इन सभी परिस्थितियों में अथवा ऐसे ही अन्य शक्य प्रसंग उपस्थित होने पर प्रचलित विधि मार्ग के अनुसार रत्नत्रयी की आराधना को जारी रखा जा सकता संभव न हो तब क्या किया जाए ? ऐसे समय में किस किस प्रकार से वर्तन कर रत्नत्रयी की आराधना में टिका रहना चाहिये— इस सबध में जो उपाय बताए गए हैं वे अपवाद मार्ग है । जो उत्सर्ग में नहीं आया, उसे तो अपवाद मार्ग की आवश्यकता ही कहा होने वाली है ? अर्थात् 'अपवाद मार्ग भी एक प्रकार का मोक्ष मार्ग ही है, अतः मैं तो इस मार्ग पर चल कर कल्याण साधना करूंगा—' ऐसा जो मानते हैं या बोलते हैं, वे तो मार्ग के रहस्य को समझे ही नहीं हैं । मोक्षार्थी जीवों की दृष्टि तो उत्सर्ग मार्ग की ओर ही होनी चाहिये । अपवाद मार्ग तो कारण विशेष में किसी व्यक्ति विशेष के लिये है । कई अपवाद ऐसे भी हैं कि कई जनो को नित्य बार बार सेवन करने पड़ते हैं परन्तु उन्हें भी अपनी दृष्टि तो उत्सर्ग मार्ग के सेवन की ओर ही रखनी चाहिये ।

उत्सर्ग मार्ग की भांति अपवाद मार्ग का अनुसरण करने में भी आराधन कैसे- यह बताने वाला उदाहरण :

प्रश्न— अपवाद मार्ग में उत्सर्ग मार्ग से बिल्कुल विपरीत प्रकार का आचरण भी हो सकता है और उसमें भी विराधना न गिनी जाए पर आराधना गिनी जाय, ऐसा आपने कहा यह बराबर समझ में नहीं आया । इनका विशेष स्पष्टीकरण हो तो अच्छा रहे ।

इसके लिए एक उदाहरण हो न । एक राजा मिथ्या दृष्टि था, और जैसा मिथ्यात्व में वह दृष्ट था वैसी ही समझी गयी ममता में ही थी । राजा और रानी के बीच हम विषय में कई बार बातें होनी पड़ी, राजा रानी को अपनी मान्यता में श्रुत नहीं कर

राजा को इस बात से अत्यन्त खेद हुआ। उसे मिथ्या धर्म पर खेद नहीं हुआ, परन्तु उसके धर्म की निन्दा हुई इससे उसे खेद हुआ। अब वह दुःख में ही दिन बिताने लगा।

रानी को भी उस बात का पता था। उसे लगा कि जैन साधु साध्वी की निन्दा सुनकर मुझे कैसी वेदना होती थी, उसका राजा को ज्ञान करवाने का यह सुन्दर अवसर था। और राजा का यदि इस कारण से भी मिथ्या धर्म पर से राग जाए और सम्यग्धर्म पर उसके हृदय में राग पैदा हो तो अच्छा ऐसा भी रानी के हृदय में था। इसलिये, उसने अवसर देखकर सन्यासिनी की बात निकाली। और राजा से कहा—देख न? आप जिसकी बहुत-बहुत प्रशंसा करते थे, वह सन्यासिनी कैसी निकली? कुँए में हो वह कुण्ड में आता है। धर्म अच्छा हो तो उसका आचरण करने वाला अच्छा हो और धर्म बुरा हो तो उसका आचरण करने वाला भी बुरा होता है। हममें आश्चर्य जैसी कोई बात नहीं है।

रानी के इन वचनों ने, राजा के हृदय को चीथने में तीक्ष्ण का काम किया, परन्तु वह विपरीत रूप से। सन्यासिनी व्यभिचारिणी मिला हुई थी, अतः उम विषय में तो कुछ बोलने जैसा रहा न था परन्तु राजा ने कहा कि 'जैन साधु कैसे बुरे होते हैं वह भाई तुम्हें दिखा दूंगा। उन्हीं समय राजा ने भग्न में गाँठ बाँधी कि यदि स्वर्ग में जितने भी जैन साधु की बदमाश के रूप में बदनामी हो ऐसा पापपूर्ण काम'।

राजा ने अपने एक जहाँ मिरास गाँव व्यक्ति को कह राजा कि जोई दोन गुरु याने नगर में आए, वो उसका ध्यान राजा की मने भूरा होना।

नहीं अथवा ऐसा आप करते हैं कि नहीं इसका विचार आपको करना है ।

राजा की आज्ञानुसार ही उसके विश्वासपात्र व्यक्ति ने सारी व्यवस्था की । राजा के निजी गुप्तचर प्रायः बड़े कुशल होते हैं ।

कामदेव के मन्दिर पर ताला लगाकर वह राजा के पास पहुँचा और कहा कि आपकी सभी आज्ञा का सर्वांश मे पालन कर दिया है । यह सुनकर राजा के आनन्द की सीमा न रही । राजा ने रानी से कहा—‘तेरा एक जैन साधु नगर के बाहर कामदेव के मन्दिर में रात को रहा है । प्रातः हमें वहाँ जाना है ।’

रानी समझ गई कि दाल में कुछ काला है । परन्तु उसके हृदय में जैन साधु के प्रति पूर्ण विश्वास था, अतः वह व्यथित नहीं हुई । व्यथित न होने पर भी उसे सारी रात चैन न हुई ।

राजा ने अपने मन्त्रियों, सामन्तों और नगर जनो को भी कहलवा दिया कि ‘प्रातः राजा नगर के बाहर कामदेव के मन्दिर में रात रहे हुए जैन साधु को देखने के लिए जायेंगे, अतः सभी को वहाँ आना है ।’

इतनी व्यवस्था करके राजा ने उगी रानी के साथ सारी रात गुप्त चैन में बिताई । रानी जैमी धर्मशोभा थी, वैसी ही पति भक्ति वाली भी थी । धर्म की बात के मित्राय पति को किसी प्रकार में प्रतिवृत्त हो—ऐसा बर्तन वह कभी भी नहीं करती थी । राजा की, अग्नि के मित्राय प्रत्येक इच्छा का वह अनुसरण करती थी । राजा के दिव्य रहस्य भी राजा के इतिहासकार मात्र में ही राजा के अभिप्राय का वह समझ जाती थी और तदनुसार वर्तन करती थी । उसके मन में भी राजा के प्रति दुर्भाव न था, परन्तु राजा को मिला

है, उन्हें भी संयम के उपकरणों का सम्मान तो करना ही चाहिये सामान्य परिस्थितियों में तो संयम के उपकरणों का अवहुमान मात्र भी हानि करता है, तो फिर संयम के उपकरणों को जला देने की बात में तो कहना ही क्या हो सकता है ?

आपको अपवाद मार्ग का ख्याल करवाने के लिये यह बात ही रही है। अपवाद मार्ग में चलने पर भी, उत्सर्ग मार्ग से बिल्कुल विपरीत प्रकार की क्रिया करने पर भी आराधना ही हो और विराधना न हो—यह कथन समझाने के लिये यह बात है। अपवाद को अस्थान पर अथवा गलत प्रकार से सेवन करे उसकी यह बात नहीं। अपवाद के स्थान पर ही अपवाद का सुयोग्य प्रकार से सेवन करे उसकी यह बात है।

उन साधु महात्मा ने तो एक मात्र लंगोट लगा दी और ढंटे का बावो के डण्ड जैसा टण्डा बना दिया। इसके मिवाय सारे ही संयम के उपकरणों को जला दिये और जुलगा कर उन्हीं की राख को अपने सम्पूर्ण शरीर पर मल दी।

ऐसे प्रसंग का वर्णन करने का या पढ़ने का यदि उत्सर्ग मार्ग के साथ अपवाद मार्ग को नहीं जानने वाले के हाथ में आ जाए तो वह क्या करेगा ? महा आराधक साधु महात्मा को वह तो महा विराधक ही मानेगा और कहेगा न ? केवल व्यवहार नय के साथ लिपके रहने वाले और निश्चय नय को नहीं जानने वाले, नहीं मानने वाले जिस जट ऐंसे प्रसंगों में आगामी से पिट सकते हैं। अतः व्याख्यान का अधिकार उत्सर्ग मार्ग तथा अपवाद मार्ग—उभय मार्गों के ज्ञाता गौतम्य को दिया गया है वह खोख है न ?

समझाए में तो आप ऐसी बातें शोध समझ लेते हैं। आपकी गणना में ही के प्रसंग का तो पता होगा। श्रीक उन शकटाक्ष में ही ज्ञाने विद्वान्मनुष्य या और उन्हीं श्रीजन ने भरी मभा में, यात्र की उप

पास आया । सबको उसने कहा कि जैन साधु कैसे वदमाश होते हैं-
इसे देखो ।'

ऐसा कहकर उसने कामदेव के मंदिर का द्वार खुलवाया ।
जैसे ही द्वार खुला कि तुरन्त ही 'अलख' करता हुआ वावा बाहर
आया । सभी ने देखा कि यह तो जैन साधु नहीं, परन्तु वावा है ।



राजा तो दिग्भ्रष्ट हो गया । उसने अन्दर पना लगवाया तो
शेम्डा के निवाय वहा फाँट न था । रात्री ने कहा- 'मदाराज ! आप
कहो थे न कि जैन साधु हैं । जैन साधु, आप सोचते हैं वेमे हीरो ही

होता है, वैसा ही अहिंसा का परिणाम अपवाद मार्ग की क्रिया करने वाले के हृदय में भी होता है। कदाचित् अपवाद मार्ग की क्रिया के समय अहिंसा का परिणाम अधिक प्रबल बने, ऐसा भी हो सकता है, क्योंकि लक्ष्य अहिंसा की ओर है और आंशिक हिंसा वाली भी जो क्रिया करनी पड़ती है, उसके प्रति अरुचि है। ऐसा होने के कारण अपवाद मार्ग का आचरण करने वाले उत्सर्ग मार्ग का आचरण करने वाले की भांति ही भगवान के आराधक हैं, परन्तु भगवान की आज्ञा के विराधक नहीं।

अपवाद बचने के लिये है :

फिर भी सर्व सामान्य प्रकार से उपदेश्य और आचरणीय उत्सर्ग मार्ग की सारी ही बातें आपको कहनी हो तो कही जा सकती है, परन्तु अपवाद मार्ग की सारी बातें आपको नहीं कही जा सकती। साधुपुन ने भी सभी को अपवाद मार्ग के दर्शक सूत्रादि पढाए नहीं जा सकते। अति परिणत और अपरिणत दोनों ही अपवाद मार्ग को जानने के लिये अयोग्य हैं। बहुत ही सुयोग्य और विचक्षण साधुओं को ही अपवाद मार्ग के प्रदर्शक सूत्र पढाये जा सकते हैं। इसमें कहना पड़ता है कि अतिचार जैसे सेवन के लिये नहीं है परन्तु जानने के लिये है और जानकर अवसर आने पर व्रत भग का उपाय योजित किया जा सके उसके लिये है, उसी प्रकार अपवाद भी आचरण करने हेतु नहीं, परन्तु ज नने के लिये है और जानकर अवसर आने पर व्रत भग में बचने का उचित उपाय योजित किया जा सके उसके लिये है। उत्सर्ग मार्ग को भन कर, उमकी उपेक्षा कर, उममें विभुग बनकर जो अप-राध मार्ग का आश्रय लेने हैं, वे अग्राधक नहीं, परन्तु विराधक हैं। इसमें आज्ञा यह बात समझ लेंगे कि अपवाद मार्ग का निधान करने के भी लक्ष्य जो उत्सर्ग मार्ग की ज्ञाता का ही है।

और कहा 'अरे कच्चा पानी तो पीया लेकिन उससे छानना भी भूल गया ?'

इस प्रकार अपवाद के स्थान पर अपवाद सेवन न कर, उत्सर्ग के साथ चिपके रहने वाला शिष्य चारित्र्य से चूका, नष्ट-भ्रष्ट हो गया ।

समर्थ भी असमर्थ से अपवाद

का सेवन करवाता है :

अपवाद का स्थान निश्चित करने में, व्यक्ति के परिणामों की ओर, शक्ति की ओर सयोगों की ओर देखे बिना नहीं चलता । ऐसी भी सत्त्वशील आत्माएँ हो सकती हैं जो अपवाद का आचरण न करें और परिणामों में भी परिवर्तन न आने दें । चाहे जैसी स्थिति में परिणाम न बदलने देने में शक्तिमान अपवाद का आश्रय न लें तो उसमें उसकी प्रशंसा होती है, जब कि सहन करने में अशक्त और उसमें परिणामों को टिका सकने में शक्ति विहीन, और उत्सर्ग-मार्ग को ही निपका रहे तो दुर्ध्यान में मरे और मार्ग से भ्रष्ट हो ऐसा यदि अपवाद का यथा योग्य प्रकार से आश्रय लेकर भी अपनी चारित्र्य के-रत्नमयी की आराधना के परिणामों को टिका ले और पुनः उत्सर्ग के मार्ग पर आ जाये तो उसकी प्रशंसा होती है । उम्मीद तो अपवाद का आचरण किये बिना ही उत्सर्ग के मार्ग में सुस्थिर रहने में समर्थ आत्माएँ भी पागल रहकर अन्य असमर्थ आत्माओं को अपवाद का सेवन करवाती हैं और उसकी इस प्रकार यथा कर देती हैं । वे अपवाद मार्ग का यथायोग्य प्रचार में और यथा-योग्य स्थान पर आश्रय देने वाला की निन्दा नहीं करते परन्तु इस प्रकार भी वे मार्गस्थ मने रहने की किसी चिन्ता वाले होते हैं ऐसा निश्चय है । अपवाद मार्ग का सेवन करने वाले उत्सर्ग मार्ग में



२२ यशः प्रसार

यश रूपी पट्टह :

इस श्री भगवतीजी मूर्ति की जयकुंजर के साथ तुलना करते हुए टिकार महर्षि बीमने विशेषण के रूप में फरमाते हैं कि—

‘यश पट्टहरदुप्रतिरवापूरांदिक् चक्रयातस्य’

अर्थात् जयकुंजर के प्रागे जीमे खोल की ध्वनि होती है और यशही प्रतिरवापूरांदिक् चक्रयात होती है उसी प्रकार इस श्री भगवतीजी मूर्ति की यश रूपी दुन्दुभि गेयी पट्ट है कि उसमें से भी प्रतिरवापूरांदिक् चक्रयात होता है वह प्रतिरवापूरांदिक् चक्रयात की गुंजा-

२३ : अंकुश के रूप में स्याद्वाङ् :

स्याद्वाङ् रूपी अंकुश :

इवर्कासवे विशेषण के रूप में टीकाकार महर्षि फरमाते हैं कि 'स्याद्वाङ्विशङ् कुशवशीकृतस्य ।'

अर्थात् जयकुजर जैसे बड़े अंकुश से वश में किया हुआ होता है, उन्ही प्रकार यह श्री भगवतिजी सूत्र भी स्याद्वाङ् रूपी विशङ् अंकुश से वशीकृत किया हुआ है ।

स्याद्वाङ् का प्रताप :

स्याद्वाङ् अर्थात् क्या ? यदि आपको मत्प्रेम में और स्थूल रीति से स्याद्वाङ् समझना हो तो कहा जा सकता है कि किसी भी छोटे या बड़े निरूपण के वाक्य में से 'ही' को निकालना और उसके स्थान पर 'भी' की स्थापना करना स्याद्वाङ् है स्याद् अस्ति और स्यात् स्यास्ति आदि पठन में आप स्याद्वाङ् को नहीं समझ सकते क्योंकि आप इनमें पड़े हुए नहीं हैं । उपकारों महापुरुषों में स्यात् पद निरूपण मात्र में सिद्धा अभिप्राय आवश्यक है और स्यात् पद को प्रत्यक्ष या पराङ्मन में भी मद्धुरीत विधि विना निरूपण में किया पुराणीयन करने योग्य है तथा स्यात् पद के बर्तन एवं पर तो पतले रहने में होगा

क्या इन दोनों के बीच मात्र पिता पुत्र का ही सम्बन्ध रहा होगा ? पिता-पुत्र और पुत्र-पिता क्या ऐसा नहीं हुआ होगा ? क्या यह परस्पर पति-पत्नी या भाई बहिन के सम्बन्धों से नहीं जुड़े होंगे ? इस प्रकार नाना सम्बन्ध हुए होंगे । क्या इन सम्बन्धों को लक्ष्य में रखने वाला ऐसा कह सकता है कि 'ये मेरे पिता ही हैं ?' ऐसा तो नहीं कह सकता परन्तु इसी 'ही' को सापेक्ष बनाकर वह ऐसा भी कह सकता है । इस भव की उपेक्षा से पिता पिता हो है यह बात निर्विवाद है, अतः इस भव की उपेक्षा रखकर 'ही' का प्रयोग करना तो हो सकता है परन्तु सर्वथा निरपेक्ष रूप से 'ही' का प्रयोग हो ही नहीं सकता । जहाँ सभी अपेक्षाओं को संग्रहीत कर बात करनी हो तो वहाँ ये मेरे पिता भी हैं ऐसा कहना पड़ता है अथवा ये मेरे पिता ही हैं ऐसा कहने वाले को मन में समझना चाहिए कि यह बात इस भव की अपेक्षा से है । ऐसा समझकर वह बोलता हो तो वह मिथ्या नहीं है । उसे जब ऐसा कहा जाय कि भवान्तर में ये तेरे पुत्र भी हो सकते हैं, तेरी पुत्री भी हो सकती है तेरी पत्नी भी हो सकती है और तेरे भाई आदि आदि भी हो सकते हैं तो इस बात को भी वह अवश्य स्वीकार करेगा ।

स्याद्वाद की अमोघ शक्ति :

इससे आप समझें होंगे कि स्याद्वाद में कितनी अमोघ शक्ति रही हुई है पदार्थ मात्र अनन्द धर्मात्मक है । कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं जिसमें अनन्त धर्म न हो । अब जब बात होती है तब अनन्त धर्मों ही एक साथ बात नहीं हो सकती । बात एक धर्म की हो फिर भी अनन्तधर्मों को लक्ष्य में रक्खा जा सकता है । प्रत्येक पदार्थ के जो अनन्त धर्म हैं उनमें से किसी भी धर्म का अग्रताप न हो मरने गौर पदार्थ के किसी भी एक धर्म को बात करने में मिथ्या मिथ्य न हो

शास्त्रों का एक एक वाक्य स्याद्वाद रूपी अंकुश से युक्त है और इसीलिए श्री जैन शास्त्रों के एक भी वाक्य को मिथ्यात्वी के रूप में वही कह सकता है जिसकी बुद्धि मिथ्यात्व से भ्रमित हुई हो। प्रत्यक्ष रूप से स्यात् पद युक्त ही है चाहे न भी हो तब भी स्याद्वादी का वचन स्यात् पद से युक्त ही है ऐसा समझना चाहिए। यह बात सच्ची है कि मिथ्या दृष्टि जीव स्वरूप से सम्यक् इस श्रुत के कथन को भी मिथ्या श्रुत के रूप में ग्रहण करने वाला बन जाय परन्तु इतने मात्र से इस श्रुत को मिथ्यात्वी नहीं कहा जा सकता क्योंकि मिथ्या दृष्टि जीव सम्यक् श्रुत को मिथ्या रूप में ग्रहण करे तो इसमें दोष सम्यक् श्रुत के कहने वाले का नहीं परन्तु उसे मिथ्या रूप में ग्रहण करने वाले के मिथ्यात्व का दोष है। इसीलिए तो आगे के विशेषण में यह बात भी आने वाली है कि यह श्री भगवतीजी सूत्र मिथ्यात्व वादी रिपुओं के दलन हेतु नियुक्त किया हुआ है। यदि यह सूत्र ही मिथ्या वाक्यों से भरा हुआ होगा तो वह मिथ्यात्व का दलन करता या मिथ्यात्व को बढ़ाता? तात्पर्य यह है कि स्याद्वाद रूपी अंकुश रहित वाक्य मिथ्यात्वी है। जबकि स्याद्वाद रूपी अंकुश वाले वाक्य मिथ्यात्वी नहीं है।

नित्यानित्यत्व .

यह विशेषण यह भी बताता है कि स्याद्वाद की दृष्टि को नश्य में रगड़कर ही श्री भगवतीजी सूत्र को पढ़े, पढ़ाएँ, वाचन करें, ध्यान करवाये, सुनें और सुनाएँ। अनेकान्त दृष्टि में ही तन्मू का अनेकान्त ज्ञान होता है। इस श्री भगवतीजी सूत्र को भी यदि अनेकान्त दृष्टि में ही पढ़ा जाय, तो गुरुयोग में सद्गति की प्राप्ति करवाने वाला यह सूत्र गुरुयोग में दुर्गति में लगीट ले जाता है। अनेकान्त शास्त्रों में यह है कि श्री द्वादशींजी की आराधना करके प्रार्थना करें और विनम्रता कर प्रणम्य लें। यदि श्यामल, श्याम

२४ : हेतु रूपी शस्त्र

हेतु रूपी शस्त्रों से सहित :

अब बाईसवा विशेषण । इसमें श्री टीककार महर्षि फरमाते हैं कि—

विविध हेतु हेति समूह समन्वितः ।'

अर्थात्—जयकुंजर हाथी जैसे विविध हेतु वाले शस्त्र समूह से समन्वित होता है, वैसे ही यह श्री भगवती जी सूत्र भी विविध हेतु रूपी शस्त्रों के समूह से समन्वित है ।

हाथी को जब युद्ध में भेजने हेतु अथवा युद्ध में ले जाने हेतु तयार किया जाता है, तब उसके ऊपर की अंबारी में तथा उसके ऊपर चढ़े जाने वाले बरतार के भाग में शस्त्र रसे जाते हैं । ये शस्त्र विविध हेतुओं वाले होते हैं । अपनी रक्षा करने के हेतु से रसे हुए शस्त्र भिन्न होते हैं और शत्रु को मारने के हेतु से रसे हुए शस्त्र भिन्न होते हैं । शत्रु को मारने के शस्त्रों में भी ऐसे भी शस्त्र होते हैं । जिन्हें फेंक कर शत्रु को मारा जा सकता है और ऐसे भी शस्त्र होते हैं जिन्हें घातने मात्र में पर्याप्त ही शत्रु को मारा जा सकता है । इसके शस्त्रों में भी ऐसे या प्रहार के शस्त्र होते हैं । शत्रु को और में फेंक मार सकता या जीव में ही मार देने वाले शस्त्र भी होते हैं और मान

इन्हें शस्त्रों की जो उपमा दी गई है वह उचित है। सच्ची बात को मिथ्या करने में और मिथ्या बात को सच्ची सिद्ध करने का प्रयत्न करने वाले भी हेतुओं रूपी शस्त्रों का उपयोग करते हैं। शस्त्र तो ऐसी वस्तु है कि उपयोग में लेना आये तो शस्त्र वाला अपनी रक्षा कर सकता है और शत्रु को भी मार सकता है, जबकि उपयोग में लेना न आए तो उसी शस्त्र से स्वयं मरता है और शत्रु को विजय प्राप्त होती है। शस्त्र का दुरुपयोग भी होता है और सदुपयोग भी होता है। इसी प्रकार हेतु सामने रखने की जानकारी तिराती भी है और मारती भी है। श्री भगवतीजी सूत्र में जो हेतु दिये गये हैं, वे सत्य तत्त्वस्वरूप को सच्चे मार्ग बताने के लिये दिये गए हैं।

हेतु देकर क्रमशः बढ़ता हुआ

उपकार साधा जा सकता है

इस पर से यह भी बात ध्यान में रखनी है कि व्यक्ति को अपनी बात, अपनी बात अर्थात् भगवान द्वारा कथित परन्तु अपने मुख से कही जाने वाली बात, जहाँ तक हो सके वहाँ तक सहेतु कहनी चाहिये। जैसे 'ससार असार है' ऐसा कहकर मात्र इतना ही कहा जाय कि भगवान ने संसार को असार कहा है अतः संसार असार है, तो ऐसा कहना सत्य है, परन्तु फिर भी ऐसा करना धर्मोपदेशक के लिए योग्य नहीं है। धर्मोपदेशक को इस संसार के स्वरूप का इस प्रकार वर्णन करना चाहिए कि जिससे श्रोताओं को लगे कि वास्तव में संसार असार है। इस प्रकार हेतु देकर 'ससार असार है'—ऐसा समझाया जाए तो इससे श्रोता के मन में भगवान के प्रति बढ़ती हुई वृद्धि होगी। श्रोता को लगेगा कि 'भगवान ने जो कहा है वह सच ही कहा है' इस प्रकार का विश्वास पैदा होगा, अर्थात् 'शोध के लिए ही प्रयत्नशील बनने लगेगा'—ऐसी बात को श्रोता स्वीकार कर लेगा। इसमें भी यदि महात्मा श्रोताओं को इस प्रकार समझाएँ कि 'ससार ही सत्य है, यह सच ही है'—

अतः इसी प्रकार है—तो इस बात में उन्हें भगवान के प्रति अरुचि न होगी । वे समझ लेंगे तो ये विषय ही ऐसे हैं जिनमें हेतु नहीं कहते । ये विषय यदि हेतु गम्य होते, तो इन्हें भगवान आज्ञा ग्राह्य नहीं कहते, बल्कि उन्होंने हेतु दिये होते । अतः हेतु गम्य विषयों में हेतु अवश्य देने चाहिए । हेतु गम्य विषयों में हेतु न देना स्व-पर के लिये अहितकर है । हेतु देने से जैसे रुचि पैदा की जा सकती है वैसे ही हेतु न देने से श्रोताओं को ऊबाने का पाप भी सिर पर मढ़ जाता है ।



देने वाले होते हैं। सूत्र की योजना भगवान् श्री जिनेश्वर देव करते ही नहीं। सूत्र गूथन तो गणधर भगवान् ही करते हैं। भगवान् श्री जिनेश्वर देव गणधर देवों की स्थापना करने के पश्चात् उन्हें त्रिपदी मात्र का दान करते हैं और वह त्रिपदी भगवान् के श्री मुख से श्रवण करने मात्र से गणधर भगवान् की आत्माये, अपने-अपने मतिज्ञाना-वरणीय और श्रुतज्ञानावरणीय कर्म के ऐसे उत्कृष्ट कोटि के क्षयो-पशम भाव को प्राप्त करते हैं कि जिसके कारण वे गणधर-नामकर्म के उदय का वेदन करते हुए अन्तर्मुहूर्त मात्र में ही द्वादशांगी की रचना कर सकते हैं। गणधर भगवान् द्वादशांगी की रचना कर लेते हैं, तत्पश्चात् ही भगवान् उन्हें तीर्थ की अनुज्ञा देते हैं। अनुज्ञा के बिना द्वादशांगी दूसरे को दी नहीं जा सकती। गुरु की अनुज्ञा प्राप्त किए बिना किसी भी शिष्य को कोई पढा नहीं सकता—ऐसा विधान है। हमारी मूल बात तो यह है कि वर्तमान शासन में गणधर भगवान् श्री मुधर्मा स्वामीजी द्वारा रचित जो द्वादशांगी परम्परागत बनी है उसे अर्थ से भगवान् श्रीमान् महावीर परमात्मा ने उपदेश में दी थी, इतना ही नहीं, परन्तु भगवान् ने उसकी अनुज्ञा भी दी थी। भगवान् ने अपनी मुहर लगा दी थी। इसलिए टीकाकार महर्षि ने यहाँ श्री भगवतीजी सूत्र को श्रीमान् महावीर महाराजा ने नियुक्त किया है—ऐसा फरमाया है।

श्री महावीर महाराजा ने यह नियुक्ति जगत के जीव मिथ्या-

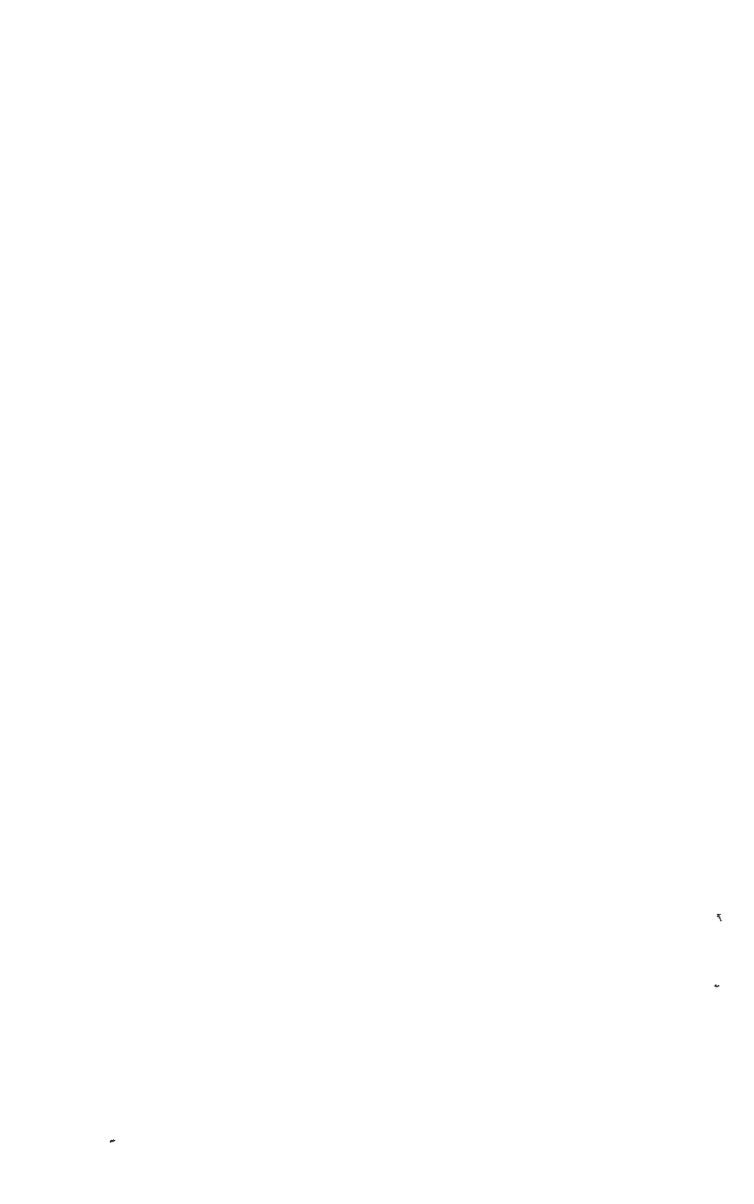
त्वादि रूपी शत्रुओं का नाश कर

सकें इस हेतु से की है :

श्रीमान् महावीर महाराजा द्वारा यह सूत्र नियुक्त किया गया है—ऐसा तबाने के साथ, किम प्रयोजन में यह सूत्र नियुक्त किया गया है, इसका भी टीकाकार महर्षि ने स्पष्टीकरण किया। मिथ्या रूपी शत्रु, अज्ञान रूप और अतिमरण रूप जो शत्रु मर्यादा हैं उनका नाश

तब से उस आत्मा ने मिथ्यात्वादि शत्रु सैन्य के विरुद्ध बल प्रयोग करना शुरू किया, परन्तु इसमें जैसे कई बार शत्रु भी बाजी ले जाता है और उसका बाजी ले जाने का मतलब है पुनः बन्धन में डालना इसी प्रकार श्रीमान् महावीर परमात्मा की आत्मा के लिए भी हुआ पुनः बन्धन ग्रस्त बने हुए श्रीमान् महावीर महाराजा की आत्मा ने मिथ्यात्वादि रूपी शत्रुओं की अधीनता में बहुत समय निकाला। उसमें जब इस आत्मा को अवसर मिला कि इस आत्मा ने लाभ उठा लिया। प्रियमित्र चक्रवर्ती के भव में उन्होंने इस शत्रु सैन्य को नाम शेष करने का प्रयत्न पुनः प्रारम्भ कर दिया। उनकी आत्मा को यह बात ऐसी जँच गई कि उनके श्री नन्दन मुनि के भव में तो उन्होंने कमाल ही कर डाला।

उनकी आत्मा को उस समय ऐसा ही हो गया कि यदि मेरा बरा चले तो मैं मात्र अपने ही मिथ्यात्वादि शत्रुओं का ही जड़मूल से अन्त ही नहीं परन्तु सारे ही जगत के जीवों के मिथ्यात्वादि रूप शत्रुओं का हनन कर डालूँ। परन्तु मिथ्यात्वादि शत्रु ऐसे प्रकार के हैं कि किसी के इन शत्रुओं का कोई और ही हनन कर सके ऐसा सम्भव नहीं है। मिथ्यात्वादि रूप अपने अपने शत्रुओं का हनन करने का पुण्यार्थ तो प्रत्येक को स्वयं ही करना चाहिये। इससे श्रीमान् महावीर परमात्मा की आत्मा ऐसे भावों में उत्कट रूप में निमग्न हो गई थी कि 'यदि भुक्त में शक्ति आ जाए तो मैं सम्पूर्ण जगत के जीवों को सम्भाल दूँ कि 'तुम्हारे वास्तविक शत्रु मिथ्यात्वादि ही हैं।' और इस प्रकार सम्भालकर इन सबको मिथ्यात्वादि शत्रुओं का हनन करने का जो सन्ता उपाय है, उस उपाय का जो फलदाकर उन सब का उस उपाय के आवरण के ही एक मात्र स्थिति



उसे प्राप्त करने की सम्हाल रखने की और सग्रहीत कर रखने की वृत्ति को पैदा करने वाला लोभ परम बन्धु जैसा लगता है। लोभ द्वारा पैदा की गई वृत्ति अमल में आये इसके लिए उसे माया सहचरी का सेवन करने में बड़ा आनन्द आता है। जबकि वह विषय सामग्री की प्राप्ति आदि में सफल होता है। तब वह मान के कारण गौरव का अनुभव करता है।

इसी प्रकार जब निष्फलता मिलती है तब वही मान वह उसे कहता है 'अरे तुझ में पानी नहीं इस प्रकार मान उसे सदा उत्तेजित करता रहता है इसलिये उने लगता है कि मान के बिना तो चलेगा ही नहीं। इस प्रकार लोभ, माया और मान को अपने हितकारी के रूप में मानने वाला उसके विषय मुख में बाधक बनने वालों पर क्रुद्ध होता है इतना ही नहीं वह यह मानता है कि मुझे क्रोध अवश्य करना चाहिये। क्रोध न करे तो लुट जाये। क्रोध न करें तो इच्छित प्राप्त न कर सकें ऐसी-ऐसी विचारणाये वह करता रहता है। यह सारा ही प्रताप मिथ्यात्व के प्रबल उदय का है। मिथ्यात्व की क्या यह जैसी-तैसी शत्रुता है।

**चाहे जितना पढ़ा हुआ व्यक्ति भी मिथ्या तत्व का उदय
घाला हो तो वह सूर्ख ही है :**

मिथ्यातन्त्र के माय अज्ञान तो जुड़ा हुआ ही है। जहाँ तक मिथ्यातन्त्र का उदय है तब तक अज्ञान तो है ही है। अज्ञान हो इसलिये पढ़ाई न हो ऐसी बात नहीं है। बहुत पढ़ाई हो ऐसा भी हो सकता है मान भाषा ज्ञान का इतिहास भगवत् गणित आदि की ही पढ़ाई हो ऐसा भी नहीं है। सम्बन्ध शून्य की पढ़ाई हो ऐसा भी सम्भव हो। इस श्री भगवतीजी शून्य की भी पढ़ाई हो यह भी सम्भव है। यहाँ पर कि दम्पत्तों में कुछ ही कम पढ़ाई हो यह भी सम्भव है। इतनी

रूपी सम्यक् दर्शन गुण को प्राप्त कर सकता है। अज्ञान तो मिथ्यात्व के साथ जुड़ा हुआ होने से सम्यक् दर्शन गुण प्रकट होने के साथ ही सम्यग्ज्ञान गुण प्रकट होता है। सम्यग् दर्शन के गुण के सु प्रताप से इस जीव का जितना अध्ययन होता है वह सम्यक् रूप से परिणित होता है। फिर वह जितना पढता है उतना भी सम्यग् रूप से उसमें फलित होता है। इसमें तत्त्व स्वरूप का यथार्थ वर्णन यथार्थ रूप से रुचिकर लगे। ऐसी योग्यता सम्यग् दर्शन गुण के सुयोग से प्रकट होती है।

इस सब पर आपको सोचना है कि मिथ्यात्व जीव की शत्रुता का कैसा भयकर कार्य करता है और इसके योग से ज्ञान भी अज्ञान रूप में ही काम करके जीव के दुष्कर्मों के उपार्जन में निमित्त बनता है। जो ज्ञान कर्मक्षय का और कर्म बन्ध का कारण बन सकता है, वह ज्ञान भी मिथ्यात्व के प्रताप से अज्ञान रूप बन कर दुष्कर्मों का कारण बनता है, इतना ही नहीं, परन्तु किसी जीव के लिये बोधि की प्राप्ति दुर्लभ भी बना सकता है।

सम्यक् श्रुत के उपार्जन की आवश्यकता :

मिथ्यात्व के क्षयोपशमादि से सम्यग्दर्शन गुण प्रकट हुआ और उसमें तो पूर्व का जो ज्ञान अज्ञान के रूप में था वह सम्यग्दर्शन के रूप में बना, परन्तु सम्यक् श्रुत का बोध तो चाहिये न? सम्यग्दर्शन गुण ने ऐसी भी योग्यता आई कि श्रुत मात्र का वह अपने अन्दर सम्यक् रूप में परिणामन कर सकता है, परन्तु सम्यक् श्रुत का अध्ययन सम्यग्दर्शन गुण को स्थिर करने वाला और सम्यग्दर्शन गुण वाले की भावना को अमन में आने में बड़ा ही सहायक बने जैसा होता है। सम्यग्दर्शन गुण को प्राप्ति दृष्ट की भावना कैसी? सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र्य द्वारा मोक्ष ही साधने की। वह सम्यग्ज्ञान और सम्यग्ज्ञान का तथा सम्यक् चारित्र्य ही ही निष्पत्ति होता है।

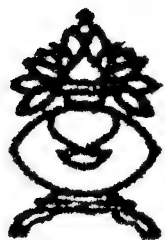
मे सच्चा लाभ हो, तभी विराम प्राप्त करने की भावना से लाभ संभव हो सकता है। इसलिये एकान्त रूप से निर्जरा के अर्थी ऐसे भी जीव को कर्म बन्ध करवाने का काम अविरमण करता है। इससे यह भी जीव का शत्रु ही है।

श्री भगवतीजी सूत्र का सामर्थ्य

किसके लिये उपयोगी :

इन तीन मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरमण रूपी शत्रुओं के सैन्य का नाश करने हेतु श्रीमान् महावीर महाराजा ने इस श्री भगवतीजी सूत्र को नियुक्त किया है—ऐसी बात को अपनी शास्त्र प्रस्तावना में बताकर टीकाकर महर्षि ऐसी प्रेरणा कर रहे हैं कि आप इस सूत्र का वाचन और श्रवण भी इसी हेतु को लक्ष्य में रख कर करना। यह बात जिन्हें प्रिय लग जाए, वे या तो सम्यग्दृष्टि जीव हैं, या मंद मिथ्यात्व वाले जीव हैं। मंद मिथ्यात्व वाले जीव यदि सद्भाव से इस सूत्र को सुने, तो उनका मिथ्यात्व नष्ट हो सकता है, तत्त्व के स्वरूप का भी इस सूत्र के श्रवण से सुन्दर प्रकार का बोध होता है, और पाप मात्र से विरमण प्राप्त करने की ही प्रेरणा करने वाला यह सूत्र है। इस प्रकार यह सूत्र मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरमण के नाश का सामर्थ्य रखता है, परन्तु वह सामर्थ्य जीव के लिये तभी उपयोगी होता है, जब जीव इस सूत्र के श्रवणादि द्वारा इस सूत्र के उस प्रकार के सामर्थ्य का स्वयं उपभोग करने वाला बनता है। इसके लिये जीव को योग्य बनाना चाहिये। आप योग्यता के लिये प्रयत्नशील बने और बने रहें—यही एक शुभेच्छा।

रचना अन्तर्मुहूर्त मात्र में की जा सके ऐसे सुयोग्य अर्थात् गणधर नाम कर्म को विकसित कर आए हुए और भगवान के पास दीक्षित बने हुए आत्माओं को ही भगवान गणधर पद पर स्थापित करते हैं। ये आत्माएं अपनी मति से द्वादशांगी की रचना करती हैं। फिर भगवान अनुज्ञा प्रदान करते हैं, इसीलिये द्वादशांगी की छद्मस्थ ने अपनी मति रचना की हुई होने पर भी द्वादशांगी को श्री अरिहन्त परमात्माओं के वचन के रूप में ही मान्य की जाती है।



मुनि रूपी योद्धा गण :

मुनि योद्धागण है। श्री जैन शासन में, योद्धा का पद तो वास्तव में मुनिजनों को ही शोभा देता है। मुनि दूसरी सभी प्रवृत्तियों का त्याग कर कर्म शत्रु को खत्म करने को और कर्म शत्रु को सहार करने की प्रवृत्ति करने की प्रतिज्ञा किये हुए है। नए कर्मों को आने से रोकना और प्राचीन कर्मों को क्षीण करना—इसी एक लक्ष्य को लक्ष्य में रखकर उसी के अनुसार प्रवृत्ति करने की और उससे विरुद्ध कोई भी प्रवृत्ति न करने की जिन्होंने महान् प्रतिज्ञा ले रखी है, वे ही श्री जैन शासन में मुनि माने जाते हैं और तदनुसार प्रवर्तन करने वाले ही मुनि पद को उज्ज्वल कर अपनी आत्मा को उज्ज्वल करते हैं और अनेकों की आत्माओं की उज्ज्वलता में निमित्त बनते हैं। ससार के चाहे जैसे प्रचण्ड योद्धा भी इन योद्धाओं के सामने लुच्छ हैं। सम-रागण में शूरवीरता से कुशलता पूर्वक शत्रुओं का संहार करने की सर्वोत्कृष्ट शक्ति रखने वाले भी दुनिया के योद्धा गण कामादि शत्रुओं से पराजित बने हुए होते हैं, जबकि मुनि रूपी योद्धागण बाह्य शत्रुओं को क्षमादि में जीतने वाले और अन्तर शत्रुओं को भी क्षमादि दस प्रकार के धर्म से पराजित करने वाले होते हैं। ऐसे मुनि रूपी योद्धाओं को महागता ममुन्नत जयकुंजर जैसे सूत्रों की लेनी पड़ती है। इसमें उन्हें किसी प्रकार की बाधा उपस्थित न हो—ऐसा प्रयत्न करना यह मात्र अमरगोपामरों का ही कर्तव्य है—ऐसा नहीं परन्तु सभी का कर्तव्य है। नर्म शत्रु के सामने युद्ध जिन्हें प्रिय न हो, वे जिम-जिस प्रकार से उनमें प्रसन्न हो, उम-उम प्रकार से मुनि रूपी योद्धाओं को बाधा रहित बन प्राप्त हो, उनके लिये प्रयत्न करने हेतु गलचाये गिना रही नहीं। सब टीसालान् महर्षि ऐसा प्रयत्न करे तो उसमें आश्चर्य नेमी जोई बाध रही है।

स्वतन्त्र रूप से आचरण करने का हक छः को है, परन्तु स्वतन्त्र रूप से मार्ग प्ररूपण तो भगवान सिवाय कोई कर ही नहीं सकता :

टीकाकार महर्षि के द्वारा किया गया यह स्पष्टीकरण किन्ना अधिक सुन्दर है ? स्वयं स्पष्टतया सरलता पूर्वक बता देते हैं कि मैं इस सूत्र की टीका किसके आधार पर करने वाला हूँ । इस स्पष्टीकरण में इस वृत्ति की प्रमाण स्वरूपता को प्रकट करने की शक्ति रही हुई है । पढ़ने वाले को सहज ही लगेगा कि पूर्व के समर्थ महापुरुषों ने जो कहा है, वही इन महापुरुष ने भी कहा है और इसलिये यह रचना विश्वसनीय है । टीकाकार महर्षि तो अपने स्पष्टीकरण में कहते हैं कि वस्तुतः यह रचना नहीं, परन्तु सघ-ठन है । मानो कि संयोजन मात्र है । इस सूत्र की जो टीका चूर्णी है उसका और श्री जीवाभिगमादि सूत्र के जो विवरण है, उनमें से जो जो अथ इस सूत्र के संबन्ध में उपयोगी होने जैसे है, उन-उन अंशों का संगठन करने का मेरा यह प्रयास है-ऐसा इन महापुरुष ने प्रकट किया है । महापुरुष ऐसा प्रकट करे इसमें कोई आश्चर्य करने जैसी बात है ही नहीं ।

जिम शासन में त्रिपदी मात्र को प्राप्त कर चौदह पूर्वों सहित द्वादशांगी की रचना करने वाले और वह भी मात्र अपनी ही मति से रचना करने वाले गणधर भगवान भी ऐसा ही कहते हैं कि 'भगवान द्वारा कथित हम कहते हैं ।' उस शासन में हुए और उस शासन के मर्म को अच्छी तरह प्राप्ति किये हुए महापुरुष, 'हम पूर्ण के महापुरुषों द्वारा कथित ही कहते हैं-ऐसा कहते हैं हममें आश्चर्य करने जैसा है ही क्या ? आश्चर्य तो तब वरना होता है जबकि वे भगवान के नाम को या महापुरुषों के नाम को दिया

‘मियाँ के चाँद पर चाँद जैसी बातें करने वाले हैं—ऐसा कहकर
सुज्जनों का अनादर करना चाहिये ।

शास्त्र देवी की प्रेरणा वाले

प्रसंग के सम्बन्ध में :

यहाँ प्रसंग है इसलिये इस बात की और भी ध्यान
किया जाता है कि इस सूत्र की वाचना शुरू हुई, उसके निक
समय में परम उपकारी आचार्य भगवान् श्रीमद् अभयदेव सूर
जी महाराजा ने किस की प्रेरणा से नौ अंग सूत्रों की टीका
रचना की है इस संबंध में कई बातें कही गई थी । शासनदेवी
प्रेरणा के वशीभूत होकर आचार्य भगवान् श्रीमद् अभयदेव सूर
जी महाराजा ने नौ अंग सूत्रों की टीकाओं की रचना की ऐसी
प्रभावक चरित्र में उल्लेख है ।

यह उल्लेख ‘दन्त कथा मात्र’ के रूप में एक मुनि श्री के द्व
प्रकट किया हुआ होने से स्पष्टीकरण दिया गया था कि आच
भगवान् श्रीमद् अभयदेव सूरेश्वरजी महाराजा के समय में इस
भगवतीजी सूत्र की टीका और चूर्णि विद्यमान थी, परन्तु उनके
में हो चुके आचार्य भगवान् श्रीमद् श्रीलाकमूरीश्वरजी महाराजा
ग्याहो अंग सूत्रों पर जो बृहद् वृत्तियों की रचना की थी, मेसे
मात्र प्रथम दो अंग सूत्रों की वृत्तियों के सिवाय नौ अंग सूत्रों
वृत्तियाँ अनुपलब्ध हो गई थी ।

इसीलिये आचार्य भगवान् श्रीमद् अभयदेवसूरेश्वरजी मह
राजा ने नौ अंग सूत्रों पर नौ बृहद् वृत्तियों की रचना की । य
वान् टीकाकार महर्षि द्वारा यह किया गए स्पष्टीकरण पर मे
मिन्न होती है, क्योंकि वे कहते हैं पहिले हो चुके मुनि श्री गिरिय
न द्वारा रचित दन्त आ चूर्णि अभी विद्यमान ना है ही सोर

इस श्री भगवतीजी सूत्र की रचना की ऐसी कल्पना को भी यहां अवसर मिल जाता है ।

टीका रचना रूपी शिल्पकला :

यह सब बताने बाद से, शास्त्र प्रस्तावना के अन्तिम भाग में उन श्री ने जो ऐसा कि 'पूर्व हो चुके मुनिजन रूपी शिल्पियों के कुल में उत्पन्न हुए हमारे द्वारा नाडि का तुल्य यह वृत्ति शुरू होती है । यह भी विशेष भाव की सूचक वस्तु है । शिल्प का कार्य अधिकांशतः परम्परागत चला आता है । शिल्प का ज्ञान बहुत करके परम्परागत प्राप्त हुआ होता है । उत्तराधिकार में चला आने वाला ज्ञान यदि बराबर चला आया हो, तो शिल्पशास्त्र के अभ्यास से जिस बात का ख्याल न आए वैसी भी बात का ख्याल उत्तराधिकार में प्राप्त ज्ञान वाले को होता है ।

टीकाकार महर्षि कहते हैं कि हमारा कुल मुनि रूपी शिल्पियों का है । हमारा कुल ऐसा है कि जिस कुल में पूर्व में बहुत बड़ी सख्या में मुनि रूपी शिल्पी हुए हैं यहां शिल्पी अर्थात् टीका आदि की रचना करने वाले समझे । ऐसे मुनिजनो के कुल में उत्पन्न हम हैं, अतः टीका की रचना करने की शिल्पकला हमारे कुल के उत्तराधिकार में चली आई हुई है । और इससे हमें इस टीका रचना की शिल्प कला का ज्ञान है, ऐसी सूचना उनके इस कथन से हमें मिलता है ।

इस प्रकार टीकाकार महर्षि द्वारा रचित शास्त्र प्रस्तावना पूर्ण होती है । अब वे श्री इस श्री पञ्चमांगसूत्र के 'विप्राह्वयति' में नान की व्याख्या करते हैं ।

सर्वमगलमांगान्यं, सर्वशुक्लमाणं कारणम् ।

प्रधानं सर्वधर्माणां, जैन जपति शायनम् ॥

